102HN21

by Cde Anu

Submission date: 18-Jul-2025 11:52PM (UTC+0530)
Submission ID: 2716910727
File name: 102HN21.pdf (1.72M)
Word count: 32516
Character count: 103580

THEORY OF INDIAN LITERATURE

M.A. Hindi, Semester-I, Paper-II

Lesson Writers

Dr. M. Manjula
M.A., M.Phil. Ph.D.,
Lecturer in Hindi
Ramakrishna Hindu High School
Amaravathi, Guntur

Director
Dr.Nagaraju Battu
M.H.R.M., M.B.A., L.L.M., M.A. (Psy), M.A., (Soc), M.Ed., M.Phil., Ph.D.
Centre for Distance Education
Acharya Nagarjuna University
Nagarjuna Nagar-522510

Phone No.0863-2346208, 0863-2346222, Cell No.9848477441
0863-2346259 (Study Material)
Website: www.anucde.info
e-mail: anucdedirector@gmail.com

M.A. (Hindi): Theory of Indian Literature

First Edition: 2021

Reprint: 2022

No. of Copies

© Acharya Nagarjuna University

This book is exclusively prepared for the use of students of M.A. (Hindi) Centre for Distance Education, Acharya Nagarjuna University and this book is mean for limited circulation only

Published by

Dr.Nagaraju Battu

Director

Centre for Distance Education

Acharya Nagarjuna University

Nagarjuna Nagar-522510

Printed at

FOREWORD

Since its establishment in 1976, Acharya Nagarjuna University has been forging ahead in the path of progress and dynamism, offering a variety of courses and research contributions. I am extremely happy that by gaining 'A' grade from the NAAC in the year 2016, Acharya Nagarjuna University is offering educational opportunities at the UG, PG levels apart from research degrees to students from over 443 affiliated colleges spread over the two districts of Guntur and Prakasam.

The University has also started the Centre for Distance Education in 2003-04 with the aim of taking higher education to the door step of all the sectors of the society. The centre will be a great help to those who cannot join in colleges, those who cannot afford the exorbitant fees as regular students, and even to housewives desirous of pursuing higher studies. Acharya Nagarjuna University has started offering B.A., and B.Com courses at the Degree level and M.A., M.Com., M.Sc., M.B.A., and L.L.M., courses at the PG level from the academic year 2003-2004 onwards.

To facilitate easier understanding by students studying through the distance mode, these self-instruction materials have been prepared by eminent and experienced teachers. The lessons have been drafted with great care and expertise in the stipulated time by these teachers. Constructive ideas and scholarly suggestions are welcome from students and teachers involved respectively. Such ideas will be incorporated for the greater efficacy of this distance mode of education. For clarification of doubts and feedback, weekly classes and contact classes will be arranged at the UG and PG levels respectively.

It is my aim that students getting higher education through the Centre for Distance Education should improve their qualification, have better employment opportunities and in turn be part of country's progress. It is my fond desire that in the years to come, the Centre for Distance Education will go from strength to strength in the form of new courses and by catering to larger number of people. My congratulations to all the Directors, Academic Coordinators, Editors and Lesson- writers of the Centre who have helped in these endeavours.

Prof. P. Raja Sekhar
Vice-Chancellor
Acharya Nagarjuna University

SEMESTER - I

PAPER - II : THEORY OF INDIAN LITERATURE

102HN21 - भारतीय काव्य शास्त्र

पाठ्य पुस्तकें :

भारतीय काव्य शास्त्र : डॉ. विजयपाल सिंह, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

पाठ्यांश :

1. **भारतीय साहित्य - सिद्धांत :-**

अ. रस तथा ध्वनि संप्रदाय : रस संप्रदाय का इतिहास, रस की अवधारणा, भरत का रस सूत्र और रस निष्पत्ति, साधारणीकरण, रस का स्वरूप-लौकिक एवं अलौकिक, रसास्वादि, सुख दुखात्मक रस ।

आ. ध्वनि संप्रदाय : ध्वनि संप्रदाय का इतिहास, स्फोट और ध्वनि, व्यंजना, ध्वनि भेद, ध्वनि की कोटियाँ, ध्वनि विरोधी अभिमत, औचित्य - औचित्य की अवधारणा, अंग संगति ।

2. अ. अलंकार, रीति और वक्रोक्ति संप्रदाय :

अलंकार संप्रदायः अलंकार संप्रदाय का इतिहास, अलंकार की अवधारणा-अस्थिर धर्म, वर्गीकरण, अलंकार और रस, रीति संप्रदाय : रीति सिद्धांत का इतिहास, रीति की अवधारणा, रीति के प्रकार, रीतियों का भौगोलिक व प्रादेशिक आधार, रीति और शैली, रीति और गुण ।

आ. वक्रोक्ति संप्रदाय : वक्रोक्ति सिद्धांत और इतिहास, वक्रोक्ति की अवधारणा, वक्रोक्ति के भेद, स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति, साहित्य की परिभाषा, शब्द और अर्थ, कवि स्वभाव : रचना प्रक्रिया, कवि स्वभाव और रीति, वक्रोक्ति और अभिव्यंजना ।

सहायक ग्रंथ :

1. भारतीय और साहित्य शास्त्र - आचार्य बलदेव उपाध्याय, नन्दकिशोर एण्ड चौक, वारणासी ।
2. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका - डॉ. भगीरथ मिश्रा ।
3. काव्य के रूप - गुलाब राय, आत्माराम अण्ड संस, दिल्ली ।
4. भारतीय काव्य शास्त्र : परंपरा और सिद्धांत -डॉ. हरिमहिन, आर्याना, पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

Semister - 1

Paper - II

भारतीय काव्य शास्त्त

I. **भारतीय साहित्य सिद्धांत**

1.1 प्रस्तावना

1.2 साहित्य को विभिन्न अर्थ

1.3 साहित्य की परिभाषाएँ

1.4 भारतीय काव्य संप्रदायों का विकास

1.5 काव्य प्रयोजन

1.6 भारतीय काव्य लक्षणों का विकास

I.अ **रत्य संप्रदाय**

1. रस संप्रदाय का इतिहास - रस की अवधारणा
2. रस निष्पत्ति
3. साधारणीकरण

I.आ **ध्वनि संप्रदाय**

1. प्रस्तावना
2. ध्वनि संप्रदाय
3. ध्वनि
4. ध्वनि की परिभाषा
5. ध्वनि भेद
6. स्फोट सिद्धांत
7. ध्वनि और गुण
8. ध्वनि विरोधी अभिमत
9. ध्वनि संप्रदाय का महत्व

I.इ औचित्य संप्रदाय

II.अ अलंकार संप्रदाय

1. प्रस्तावना
2. अलंकार संप्रदाय की परम्परा
3. अलंकार की परिभाषा
4. अलंकार और अलंकार्य
5. अलंकारों की वर्गीकरण
6. अलंकारों का महत्व
7. अलंकार और रस

II.आ रीति संप्रदाय

II.इ वक्रोक्ति सिद्धांत

1. भारतीय साहित्य - सिद्धांत

साहित्य का सृजन एवं पठन अध्ययन सोद्धेश्य होता है । सृजक तथा पाठक साहित्य से विशिष्ठ प्रयोजन की अपेक्षा रखता है । देश काल और युगप्रवृत्तियों, रूचियों, आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य पर कई प्रयोजन रहते है । साहित्य सहित से बना है । सहित शब्द का अर्थ है साथ अर्थात साहित्य का तात्पर्य है सहभाव या साथ रहना । यह सहभाव शब्द और अर्थ का है । सहभाव को सहयोग भी कह सकते है ।

साहित्य के विभिन्न अर्थ

१) वह बन्ध अथवा वाक्य जिसके दवारा हित अथवा कल्याण हो ।

२) वह रचना जिसके दवारा सम्यक हित अथवा पूर्ण हित हो ।

३) वह रचना जो शब्द और अर्थ को धारणा कर उनके विधि से उनका पोषण करती है ।

४) वह रचना जो शब्द के माध्यम से कवि के अर्थ को सहृदय व्यक्तियों के मन में निहित कर देती है और वह अर्थ वहाँ इसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार अंगूठी में जड़ नग ।

५) वह कृति जो कवि के अर्थ को पाठक, भावुक अथवा सामाजिक के हृदय तक आगे बढ कर उसके हृदय को उत्तेजित कर प्रसन्न करती है ।

इन सभी अर्थों को दृष्टि में रखकर विभिन्न आचार्योंने साहित्य के विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की है ।

साहित्य की परिभाषाएँ :

१. साहित्य मनयो : शोभाशालितां प्रतिकांव्यसौ ।
अन्यूनानति रिक्तत्वम मनो हारिण्यवस्थिति : ।। - कुन्तक

अर्थात शब्द और अर्थ का जो अनिर्वचनीय सम्मेलन होता है वही साहित्य है और शब्दर्थ का वह सम्मेलन या विचित्र विन्यास तभी संभव हो सकता है जब कि कवि अपनि प्रतिभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो वही रख कर अपनी रचना रुचिकर बनाता है ।

२. अज्ञात पाण्डित्य रहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेअभिमानम् ।
ते गारूडीयानन धोत्य मन्त्रान हालाहला स्वादन मारभन्ते ॥ - मंखक (श्री कण्ठ चरित)

आर्थात पांडित्य के रहस्यों, ज्ञातव्य प्रच्छन्न विषयों को बारीकी बिना जाने सुने जो काव्य का अभिमान करते है वे सर्पविनाशक मन्त्रों को न जान कर हलाहल विष चखना चाहते हैं ।

३. सुलंकृत और शब्दर्थयुक्त साहित्य काव्य है । - आचार्य क्षेमेंद्र

४. साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है ।

वह केवल भाव भाव का, भाषा - भाषा का, ग्रन्थ - ग्रन्थ काही मिलन नहीं है, बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य माध्यम से सम्भव नहीं है । - महाकवि रवीद्रनाथ ठाकुर

५. ''साहित्य के शास्त्र पक्ष की प्रतिष्ठा काव्य चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए, रचना के प्रतिबन्ध के लिए नहीं'' । - अचार्य रामचंद्र शुक्ल

६. ''साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात विचारों, भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है ।''
- डॉ. गुलाबराय

साहित्य में उदात्त दृष्टिकोण ही सब कुछ है जिसके समक्ष श्रेय और प्रेम अपनी परिस्थिति गत सीमाओं का नर्धारण करते है । साहित्य के विस्तार की जितनी भी संभावनाएँ इनमें अनुभूतियाँ प्रधान है । ये अनुभूतियाँ अपने संस्कारों के अनुसार विविध शैलियाँ ग्रहण करती है । चाहे वह कविता हो, नाटक हो, कहानी या उपन्यास । साहित्य के विविध पक्षों का प्रभावपूर्ण चित्रण किसी एक ही शैली में होना सम्भव नहीं । भाव पक्ष, जिज्ञासा पक्ष, अनुरंजन पक्ष, विवेचन पक्ष जब अपनी एक भव्य प्रमुख अनुभूतियों में अवतरित होना चाहता है तो उन्हे काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि संज्ञा दी जाती हैं ।

२. भारतीय काव्य संप्रदायों का विकास ः

आत्मा दार्शनिक शब्द है । यह लोक व्यवहार से काव्य शास्त्र में आया है । दर्शनों में आत्मा की अनेक व्याख्या की गई है । लोक व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में होता है । यहाँ यह जीवन का प्रतीक माना जाता है । काव्य की आत्मा का अर्थ है काव्य का वह प्राणभूत तत्व जिसके कारण ही काव्य काव्यत्व के स्वरूप को ग्रहण करता है जिसके अभाव में अन्य सभी गुणों के होते हुए भी काव्यत्व की गरिमा से अलग है।

संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्य की आत्मा का अन्वेषण एवं विश्लेषण प्रारम्भ हुआ । प्रत्येक आचार्य ने सर्वप्रथम इस प्रसंग को उठाया । काव्य शास्त्र में जब भी शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर बनाया गया, तभी काव्य की आत्मा का प्रश्न उठा । सर्व प्रथम या बहुत पहले ही आचार्य दण्डी ने काव्य की आत्मा का प्रश्न उठाया था । दण्डी ने केवल काव्य शरीर का उल्लेख किया । काव्यात्मा के मौन हो रहें । परवर्ती आचार्यों ने काव्य की कल्पना करके आत्मा विषयक समस्या का विस्तार से विवेचन किया है ।

संस्कृत भापा में साहित्य स्वरूप विश्लेषण का आरंभ भरतमुनि के नाट्य शास्त्त से माना जाता है । यद्यपि नाट्य शास्त्र का प्रमुख विवेच्य (अनुसंधान) विषय नाट्य विधा है, लेकिन प्रसंगवश साहित्य स्वरूप विश्लेषण भी हुआ है । नाट्यशास्त्त में रस, भाव, काव्य लक्षण, अलंकार, गुणदोषों का विवेचन किया गाय है । भरत मुनि के नाट्यशास्त्त में नाटक के अंतर्गत काव्य के तत्वों का निरूपण है । साहित्य स्वरूप को स्वतंत्त रूप में विश्लेपित करने का प्रथम प्रयास अग्निपुराण में देखा जा सकता है । इस दृष्टि से साहित्य की सब से प्रचीन परिभाषा अग्निपुराण की मानी जा सकती है । अग्नि पुराण से लेकर रस गंगाधर तक के संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में प्रस्तुत काव्य परिभाषा किसी न किसी संप्रदय विशेष से जुडी हुई है । संस्कृत काव्य शास्त्र में प्रमुखत : अलंकार, वक्रोक्ति,रीति, ध्वनि तथा रस संप्रदाय चर्चित रहें । इन के अतिरिक्त औचित्य, अनुमिति आदि संप्रदाय भी रहे है । इन प्रमुख संप्रदायों ने एक अंग विशेष को काव्यात्मा घोषित कर काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की है । यहाँ उदघोष तो काव्यात्मा का किया जाता रहा, लेकिन रस संप्रदाय को छोडकर शेष सभी संप्रदायों ने साहित्य के बाह्यांग पर ही अधिक बल दिया है । विभिन्न संप्रदायों दवारा प्रस्तुत काव्य परिभाषाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है ।

अलंकार संप्रदाय :

संस्कृत साहित्य शास्त्र में सर्वाधिक चर्चित संप्रदाय अलंकार संप्रदाय है । प्राचीन काल में साहित्य शास्त्र को अलंकार शास्त्र वहा जाता था । अग्निपुराण, भामह, दण्डी अदि की परिभाषाऐं अलंकार सम्प्रदाय की धारणाओं को लेकर प्रस्तुत हुई है । यह संप्रदाय अलंकार को काव्य का प्रमुख तत्व मानता है । भामह और दण्डी ने अलंकार का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है और उन्होंने रस को रसवत अलंकारों में सम्मिलित कर दिया, इन के अनुसार काव्य का समस्त सौंदर्य अलंकार है । अलंकार संप्रदायी आयार्यों ने साहित्य को इस प्रकार परि भाषित किया है ।

अग्निपुराण : संक्षेपाद वाक्य मिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली

काव्यं स्पुरदलंकार गुणवद्दोष वर्जितम् ।

अर्थात संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकटकरने वाली पदावली से युक्त वावय काव्य है, जिस में अलंकार प्रकट हो और जो दोष रहित और गुण युक्त है ।

आचार्य भामह : शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् अर्थात शब्द अर्थ का संयोग काव्य है । शब्द और अर्थ तो शास्त्रों तथा वार्तालाप में भी होते हैं और साहित्य में भी । लेकिन दोनों में अंतर है जो भामह सहितौ शब्द के माध्यम से स्पष्ट करते है । काव्य में शब्द और अर्थ समान रूप में महत्व रखते हैं, अपितु का संयोग उसकी निजी विशेषता है । शास्त्रों तथा वाक् व्यवहार में शब्दों की अपेक्षा अर्थ महत्वपूर्ण होता है ।

रीति संप्रदाय :

शब्द और अर्थ को काव्य शरीर मानकर काव्य की आत्मा की खोज जिन आचार्यों ने की उन में रीति संप्रदाय के आचार्य वानम सब से आगे है । काव्य रूपविश्लेषण में काव्यात्मा का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य वामन ने किया आपके अनुसार ''रीतिरात्मा काव्यस्थ'' अर्थात रीति विशिष्ट गुणों से युक्त पदावली ही काव्य की आत्मा है । विशिष्ट पद रचना को रीति कहते है । इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ गुण सम्पन्न पद रचना । रीति सम्प्रदाय में गुण के इस महत्व को देख कर इसे गुण सम्प्रदाय में गुण के इस महत्व को देख कर इसे गुण सम्परदाय भी कहा जाता है । वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए भी अलंकार के महत्व को अस्वीकार नहीं किया है । आचार्यों ने इन दो तत्वों का विषय विभाजन इस प्रकार किया था कि जो सौंदर्य के उत्पादक तत्व हों उन्हें गुण कहते है और जो उत्पन्न सौंदर्य को बढाते हो, वे अलंकार कहलाते है । गुण सम्प्रदाय को ही वामन ने रीति कहा है ।

ध्वनिसंप्रदाय :

प्रमुखत : ध्वनि के तीन भेद माने जाते है । वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि । इसमें रसध्वनि का महत्व सब से अधिक है । इसी ध्वनि के आधार पर ध्वनिवादियों ने साहित्यिक रचनाओं को तीन भागों में बाँटा है - ध्वनि काव्य, व्यंग्य काव्य और चित्र काव्य । ध्वनि का बहु प्रचलित नाम व्यंजना है । शब्द शक्तियों में धवनि का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है । लक्षणा तथा व्यंजना शब्द शक्ति साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं । एक तरह से लक्षणा विशेषकर व्यंजना काव्य को शास्त्रों से पृथक करती है । इसलिए ध्वनि संप्रदाय में ध्वनि को काव्य का व्यवछेदक (खंड, विभाग, अलगाव) लक्षण माना गाया है । ध्वनि संप्रदाय के प्रमुख आचार्य आनंदवर्धन के अनुसार ध्वनिरात्मा काव्यस्थं अर्थात शब्दार्थ शरीर रूपी काव्य की आत्मा ध्वनि है ।

वक्रोक्ति संप्रदाय :

इस संप्रदाय के अनुसार वक्रोक्ति काव्य का भेदक लक्षण है । आचार्य कुंतक के अनुसार ''वक्रोक्ति काव्य जीवितम्'' अर्थात वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है । इस संप्रदाय की वक्रोक्ति, अलंकार संप्रदाय के वक्रोक्ति अलंकार से भिन्न है । वक्रोक्ति अलंकार की वक्रता वावय तक ही सीमित है, किन्तु, वक्रोक्ति संप्रदाय की वक्रता वर्णविन्यास से प्रबंध वक्रता तक फैली हुई है । आचार्य कुंतक वक्रोक्ति पर बल देते हुए काव्य की परिभाषा इस तरह प्रस्तुत करते है

''शब्दार्थौं सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनी बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्

अर्थात वक्र व्यापारशाली और किसी सूत्र में व्यवस्थित शब्दार्थ काव्य है ।

रससंप्रदाय :

यह सबसे प्रचीनतम संप्रदाय माना जाता है ।आचार्य भरतमुनि का रससिद्धांत रसवादियों के लिए नींव सादृश्य रहा है । अन्य संप्रदाय के आचार्यों ने साहित्य के बाहयांग पर बल दिया है, लेकिन रस संप्रदाय ने आंतरिक पक्ष को अपनाया है । इन के अनुसार रस काव्य का व्यवच्छेदक लक्षण है । यद्यपि अन्य संप्रदायों ने भी रस को किसी न किसी रूप में अपनाया है । रस को काव्यात्मा के रूप में अपनाकर काव्य को परिभाषित करने वाले आचार्यों में विश्वनाथ तथा पंडित जगन्नाथ सर्वाधिक चर्चित रहे हैं । आचार्य विश्वनाथ ने काव्य को परिभाषित करते हुए कहा है - ''वाक्य रसात्मकं काव्यम'' अर्थात रसयुक्त वाक्य ही काव्य है । पंडित जगन्नाथ के अनुसार -

रमणीयार्थ प्रतिपादक : शब्दः काव्यम् :

अर्थात रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द ही काव्य है । आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा पर यह आक्षप किया जाता है कि रस निष्पत्ति एक वावय पर नहीं समूची रचना पर निर्भर होती है । पं. जागन्नाथ के शब्दः को लेकर यह आक्षेप उठाया जाता है कि काव्य के अंतर्गत शब्द में सदैव अर्थ की रमणीयता नहीं होती पूरे वावय से रमणीयता प्रतिपादित होती है ।

औचित्य सम्प्रदाय :

संस्कृत काव्य शास्त्र में औचित्य - सम्प्रदाय अन्तिम सम्प्रदाय है । आचार्य क्षेमेंद्रं इस संप्रदाय के प्रवर्तक है । इन्होंने इस सिद्धांत का विवेचना करते हुए कहते है कि काव्य में सातत्य और सामंजस्य का होना अनिवार्य है। इन्ही गुणों से काव्य में काव्यत्व आता है और इसकी प्रभाव शक्ति बढती है । आचार्य क्षेमेंद्र औचित्य का लक्षण बताते हुए कहते है ।

उचित प्रहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।

उचितस्य चयो भाव । वदौचित्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात अनुरूप वस्तुओं के योग को आचार्यों. ने उचित माना है और उचित को ही औचित्य कहते हैं। वस्तुओं के उचित योग से ही उनमें अतिशय प्रभावोत्पादकता एवं समणीयता आती है । इसलिए इन्होंने औचित्य को काव्य की आत्मा घोषित की है ।

''औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्

अर्थात औचित्य रस सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन होता है । दूसरे शब्दों में कह सकते है कि औचित्य काव्य की आत्मा है ।

इन प्रमुख संप्रदायों के अतिरिक्त महिमभट्ट ने अनुमिति को काव्यत्मा मानकर परिभाषएँ प्रस्तुत की है । संप्रदाय विशेष से हठकर काव्य को परिभाषित करने वाले आचार्यों में आचार्य मम्मट का नाम सर्वोपरि है । आचार्य मम्मट ने व्यावहारिक दृष्टि से काव्य की परिभाषित देते हुए कहा है । ''तद् दोषौ शब्दार्थौं सगुणों अनलंकृती पुनः कवापि'' अर्थात दोष रहित तथा गुण सहित शब्दार्थ का कभी कभी अलंकार से रहित भी होते हैं काव्य हैं ।

इस प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र में अनेक विदवानों ने काव्य की आत्मा से संबंधित प्रमुख सम्प्रदायों का विवेचन किया था ।

2. काव्य प्रयोजन

साहित्य का सृजन एवं पठन - अध्ययन सोद्देश्य होता है। लेखक तथा पाठक दोनों काव्य से वशिष्ट प्रयोजन की अपेक्षा रखता है। संस्कृत आचार्यों ने सृजक तथा पाठक दोनों को द्दष्टि में रखते हुए काव्य प्रयोजनों पर विस्तार से विचार किया है।

सर्व प्रथम भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का क्रम आता है। तद्यपि भरत मुनि ने नाट्य प्रयोजनों की चर्चा की है, लेकिन वह सम्पूर्ण काव्य के लिए भी संगत हो सकती है। उन के अनुसार

'दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम, विश्राम जननं लोको नाट्यमेयाद् भविष्यति'

अर्थात दु:ख, श्रम, शोक से पीडित तपस्वियों के विश्राम के लिए ही लोक में नाट्य का उदभव हुआ। नाट्यशास्त्र के एक अन्य स्थान पर नाट्य प्रयोजन की ओर संकेत करते हुए वे लिखते है

''धर्म्य याशास्यमानुष्यं हित बुद्धि विवर्द्धनम्

लोकोपदेश जननं नाट्यमेयाद् भविष्यति'' ।।

आर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कलाओं में विचक्षुणता पाना कीर्ति और आनंद की उपलब्दि काव्य का प्रयोजन है। आचार्य भामह के अनुसार यह सभी प्रयोजन सिद्धिं कवि को काव्य सृजन तथा पाठकों को काव्य - पठन - अध्ययन दवारा होती है। सत्काव्य की श्चना कवि को अमर बनाती है। इसलिए कीर्ति लोखक निष्ठ प्रयोजन है।

संस्कृत के अन्य आचार्यों ने साहित्य प्रयोजन काव्य प्रयोजन इस प्रकार दिये है। आचार्य दण्डी ने ज्ञानप्रप्ति तथा यश प्राप्ति, आचार्य वामन ने प्रीति तथा कीर्ति को काव्य प्रयोजन माना है। वामन जिसे प्रीति कहते है वह आनंद ही है। आचार्य रूद्रट ने यश प्राप्ति, अनर्थ का नाश और अर्थ प्राप्ति को काव्य प्रयोजन स्वीकार किया है, लेकिन ?श प्राप्ति को अधिक महत्व दिया है। आनंदवर्धन ने प्रीति अर्थात् आनंद प्राप्ति को स्वीकार किया है। उनके ही संप्रदाय के अभिनव गुप्त ने (प्रीति आर्थात) आनंदानुभूति को कवि तथा सहृदय दोनों की दृष्टि से साहित्य प्रयोजन माना है। कवि कीर्तिजन्य आनंद पाता है तो सहृदय रचनाजन्य। आचार्य कुंतक की प्रयोजन चर्चा में मौलिक चिंतन दृष्टिगोचर होता है। उन के अनुसार काव्य सर्जना के तीन प्रयोजन है। व्यवहार - औचित्य का ज्ञान, चतुर्वर्ग फल प्रप्ति तथा अद्विवतीय अंतश्चमत्कार की उपलब्धि। आचार्य मम्मट समन्वयात्मक तथा व्यापक दृष्टिवाले आचार्य

रहे हैं। उक्त आचार्यों के काव्य प्रयोजनों का संकलन - समन्वयन करते हुए काव्य प्रयोजन को इस तरह प्रस्तुत किया गया है।

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहार विदे शिवेत्तरक्षतये

सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयौपदेश युजे ॥

अर्थात काव्य का प्रयोजन यश, अर्थ प्राप्ति, व्यवहार की शिक्षा देना और जीवन के अमंगल का नाश करना है। इस के साथ लोकातीत आनंद तथा कान्ता के समान उपदेश भी काव्य के प्रयोजन है। उपर्युक्त श्लोक के आधार पर काव्य के निम्नलिखित प्रयोजन स्वीकार किये जा सकते है।

यशप्राप्ति :

लगभग सभी संस्कृत आचार्यों ने यश प्राप्ति को साहित्य का प्रयोजन माना है। आचार्य रुद्रट ने इस प्रयोजन पर विशेष से महत्व दिया है। उनकी दृष्टि मे साहित्य सृजन के माध्यम से सृजक को यश प्राप्ति होना ही है, वर्णनायक को भी यश प्राप्ति होता है, बल्कि काव्य के माध्यम उसे चिर अमर बना देता है। यश मनुष्य जीवन की उदात्ततम एवं सर्वोपरि कामना हैं। राष्ट्रकवि दिनकर ने प्रशंसा और प्रोत्साहन को कवि प्रतिभभा के आहार (विधा): कहा है। यश प्रप्ति की कामना हर कवि में होती है अन्यथा रचना के साथ रचनाकार अपना नाम न लिखता। आदिकाल, रीतिकाल के रचनाकार यश प्राप्ति के लिए लिखते थे, भक्तिकाल के भवत कवि भी यश कमाने से रहित नहीं है। कहत कबीर, सूरदास प्रभु, मीरा के प्रभु आदि छाप लगभग सभी भक्त कवियों की रचना में मिलती है। यह छाप रचनाकार की अव्यक्त, अस्पष्ट यश कमाना के परिचायक भी कहलाए जा सकते हैं। आधुनिक काल के रचनाकारों में भी यश कामना प्रबल रूप में विद्यमान है।

मूलत : आत्मप्रकाशन अपने व्यक्तित्व की
विशेष पहचान का पर्यास होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि यश प्राप्ति की कामना हर युग की साहित्यकार में होती है। प्राप्त यश, प्रशंस - अधिक लिखने के लिए प्रेरित करती है। अतः यश प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन माना जा सकता है। लेकिन यह इस का मूल प्रयोजन नहीं है और विशेष प्रयोजन भी नहीं है। साहित्येत्तर कलाओं तथा कलाक्षेत्तं में भी यश कमाना प्रेरणा का कार्य करती हुई दिखाई देती है।

उदा : क्रीडा, शिक्षण, राजनीति आदि।

व्यवहार ज्ञान :

आचार्य भरत मुनि, भामह, कुंतक तथा आचार्य मम्मट ने व्यवहार ज्ञान को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। पर पाठक निष्ठ प्रयोजन है। आचार्य कुंतक ने इस प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुए कहा है - सत्काव्य व्यवहार रत लौकिक पुरुषों को अब तक जो काव्य प्रयोजन देते है उनका संज्ञिप्त विवेचन निम्न प्रकार कर सकते है।

(१) **चतुर्वर्गफल प्राप्ति :** जीवन की सफलता धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थ सिद्धी में मानी जाती है। धर्म आध्यात्मद्रवारा नियंत्रित समाज जीवन में व्यक्ति की हर क्रिया का प्रयोजन लौकिक तथा अलौकिक जीवन की सार्थकता में देखा जाता है। काव्य दवारा धर्म नया मोक्ष प्राप्ति, अलौकिक जीवन की सार्थकता, अर्थ और काम, लौकिक जीवन की सार्थकताका प्रतिपादन है। मध्य कालीन हिन्दी साहित्य का पूर्वार्द्ध भक्तिकाल धर्म तथा मोक्ष प्रयोजन का आग्रही रहा है तो उत्तरार्द्ध रीतिकाल अर्थ और काम प्रयोजन का आग्रही। आदिकालीन साहित्य का प्रयोजन अर्थ प्राप्ति भी रहा, धर्म, काम तथा मोक्ष लेखक तथा पाठक दोनों के लिए है। अर्थ प्राप्ति सृजक निष्ठ प्रयोजन है।

आधुनिक कालीन समाज जीवन में धर्म तथा आध्यात्म को वह स्थान नहीं जो मध्यकाल में था। इसलिए धर्म और मोक्ष प्रयोजनों के लिए आधुनिक साहित्य में कोई स्थान नहीं है। लेकिन अर्थ प्राप्ति तथा काम प्प्ति आधुनिक साहित्य के माध्यम से होती है। किन्तु वे साहित्य के प्रकृति जन्य प्रोयजन नहीं है। सामान्य प्रयोजन है। जब सामान्य प्रयोजन प्रधान बन जाते हैं तब उसकी प्रकृति तथा प्रयोजन लुप्त हो जाते है। काव्य जब अर्थ प्राप्ति कारण बन जाता है तब वह साहित्य नहीं रह जाता। यही बात काम के संदर्भ में भी कहीं जा सकती है। वासनाओं को उद्दीपन करना तथा अर्थ प्राप्ति करना इन दोनों प्रयोजनों का मद्देद नजर रख कर लिखी गयी सस्ती पत्रिका में प्रकाशित महांनियाँ, उपन्यास इस बात को प्रमाण के रूप में लिखे जा सकते है।

आचार्य भरत ने 'बुद्धि विवर्जनम्' के रूप में इस प्रयोजन को श्वीकार किया है। इसे स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि साहित्य अध्ययन हमारे दृष्टि का परिष्कार करती है। जीवन के वास्तविक सत्य को पहचानने केलिए एक नयी दृष्टि प्रधान करती है। अपने मौलिक यथार्थ का साक्षात्कार भी कराता है। कला सृजन तथा आस्वादन मानव की विशेष पहचान है। भर्तृहरि ने कहा है ''साहित्य संगीत कला विहीन : साक्षात्पशुः प्रच्छविशाणहीनः। आधुनिक कवि धूमिल के अनुसार कविता भाषा में आदमी होने की तमीज है।इस दृष्टि से साहित्य हमें आदमी बने रहने में मदद करता है मन और बुद्धि का परिष्कार करके। लेकिन इसे व्यवहार ज्ञान प्रदान करने केलिए न तो कोई साहित्यकार साहित्य सृजन करता है और न व्यवहार ज्ञान प्राप्ति केलिए कोई पाठक साहित्य आस्वादन और अध्ययन करता है।

अमंगल का नाश :

आचार्य मम्मट ने 'शिवेत रक्षतये' के रूप में दैहिक तथा भौतिक अमंगल के नाश को साहित्य प्रयोजन माना है। उन्होंने एक उदाहरण दिया है कि 'मयूर' ने सूर्यशतक की रचना की और आपकी कुष्ठ रोग से मुक्त हुई । बाहु, पीडा शमन के लिए तुलसीदास ने हनुमान बाहुक, तथा कुष्ठनिवारणार्थ पदमाकर ने गंगालहरी की रचना की थी । भक्तिकालीन कवियों का मूल स्वर 'मेरा उद्धार करो' अर्थात दैहिक, दैविक तथा भौतिक परिष्कार का है । आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रयोजन को कोई प्रासंगिकता नहीं है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक असंतुलन से कुक्ति तथा सुधारवादी दृष्टि से सामाजिक अमंगल का नाश काव्य के प्रयोजन माने जा सकते हैं ।

आनंद प्राप्ति :

लगभग सभी संस्कृत आचार्यों ने आनंद प्राप्ति को काव्य का प्रधान प्रयोजन स्वीकार किया है । आचार्य भरत मुनि ने रस सिद्धांत और प्ररिभाषा प्रसंग में आनंद या रस साधना को मुख्य रूप में महत्व दिया है । आचार्य वामन, आनंदव र्धन, अभिनयगुप्त आदि ने इसे प्रीति के रूप में अपनाया । आचार्य कुंतक के अनुसार काव्य सुकुमार गतिवालों के लिए मृदुकोमल शैली में आह्लादित करने वाले धर्म सिद्ध का मार्ग है । काव्यानंद ब्दिविज प्रयोजन है । सृजन की प्रक्रिया के दारान सृजक तथा पठन, आस्वादन के दारान पाठक इस के अधिकारी होते हैं । संस्कृत आचार्यों के अनुसार सुख और आनंद में अंतर है । सुख सापेक्ष अनुभूति है उसमें किसी न किसी रूप के 'स्व' तथा स्वहित विदयमान होता है । आनंद की अनुभूति निरपेक्ष होती है, उस में स्व तथा स्वाहित विद्यमान होगा - यह नहीं कहा जा सकता । काव्यानंद को बह्मानंद सहोदर कहा गया है । सृजनात्मकता का आनंद भौतिक सुखानुभूति से नितान्त भिन्न होता है इसलिए इसे अलौकिक आनंद भी कहा जाता है । पाठक को प्राप्त काव्यानंद भी भौतिक सुखानुभूति से अलग होता है । इस समय की मानसिक अवस्था को आचार्य अभिनव गुप्त ने हृदय संवादात्मक तन्मय भावना कहा है ।

कान्ता सम्मित उपदेश :

आचार्य मम्मट ने यह लेखक निष्ठ प्रयोजन प्रस्तुत किया है । साहित्य की व्युत्पत्ति 'सहितस्य भावः साहित्यम्' मानी जाती है । शास्त्रों में प्रकट हित का स्वरूप बौद्धिक होता है, और साहित्य में प्रकट लालित्यपूर्ण होता है । पिता दवारा हितोपदेश तथा प्रिय पत्नी दवारा हितोपदेश में 'भाव हित' का जरूर होगा, लेकिन प्रकरन ढंग अलग अलग होगा। पत्नी का हितोपदेश सीधा न होकर मधुर भाषा में तथा प्रच्छन्न रूप में होता है । साहित्यकार का उपदेश भी इसी तरह का होता है । जब साहित्यकार सीधा उपदेश करने लगता है तब वह साहित्य, साहित्य न रहकर भाषण बन जाता है । हिन्दी की इतिवृ त्तात्मक कविता का उल्लेख इस के प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है ।

हिन्दी विद्‌वानों ने भी साहित्य प्रयोजनों पर विस्तार से विचार किया है । भक्ति कालीन भक्त कवियों को रचनाओं में काव्य की प्रयोजन की ओर संकेत करने वाली प्रक्रियाँ प्राप्त होती है । संत कबीर लोक मंगल के समर्थक रहे हैं । तुलसीदास के रामचरित मानस की रचना स्वातः सुखाय के लिए करने का संकेत किया है । तुलसीदास आनंद प्राप्ति तथा लोक मंगल को काव्य प्रयोजन स्वीकार करते है । सूरदास तथा अन्य कृष्ण भक्ति कवि आनंद के प्रति अधिक झुके हुए है । रीतिकालीन आचार्यों ने प्रयोजन चर्चा विस्तार से की है, लेकिन इस में मौलिकता का अभाव ही रहा है ।

आधुनिक हिन्दी विदवानों के साहित्य प्रयोजन विचार पर संस्कृत तथा पाश्चात्य विचारों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । आचार्य महावीर प्रसाद दिववेदी तथा दिववेदी कालीन अन्य कवि श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने नित्युपदेश और आनंद को काव्य प्रयोजन माना है । डा. रामचंद्रशुक्ल के अनुसार कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है । जहाँ जगत की नाना जातियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है । इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनो विकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबध की रक्षा और निर्वाह होता है । छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद ने मनोरंजन तथा शिक्षा को काव्य प्रयोजन माना है, तो महादेवी वर्मा की दृष्टि में काव्यका उद्‌देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छंद मानव स्वभाव में उस की मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है ।

प्रगतिशील रचनाकार प्रेमचंद के अनुसार साहित्य के तीन प्रयोजन है परिष्कृति, मनोरंजन तथा उदघाटन। मुक्तिबोध ने साहित्य का उद्‌देश्य ''सांस्कृतिक परिष्कार'' माना है । डा. हजारीप्रसाद दिववेदी ने लोकमंगल पर बल दिया है । डा. नगेन्द्र के अनुसार आत्म साक्षात्कार का नाम आनंद है । वाणी के माध्यम से जो आत्म सिद्धी प्राप्त होती है, उस का शास्त्रीय नाम रस है । साहित्य की प्रकृति या प्राणतत्व है रस और यही उस का प्रयोजन है ।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों, विदवानों ने कई प्रयोजन प्रस्तुत किए है, उन में प्रमुखतः आनंद तथा काव्य की उपयोगिता को केंद्र में रखा गया है । काव्य या साहित्य सृजन तथा आस्वादन से आनंदानुभूति निश्चित रूप से होती है, इसलिए आनंद को काव्य प्रयोजन स्वीकार किया जाना चाहिए ।

3. भारतीय काव्य - लक्षणें का विकास

१. संस्कृत आचार्यों के काव्य लक्षण :

आचार्य भरत संस्कृत काव्य शास्त्त के आदि आचार्य है । इनके 'नाट्या शास्त्त' काव्यशास्त्त का भी आदि ग्रंथ । इस ग्रंथ में नाट्य और काव्य में कोई अंतर नहीं इसमें नाट्य कला का विवेचन तो है पर काव्य का कोई लक्षण नहीं दिया । किन्तु काव्य कला की व्याख्या करते हुए लिखा है - नाटक के दर्शकों के लिए शुभ काव्य वह होता है जिसकी रचना कोमल और ललित पदों में हो, जिसमें शब्द और अर्थ गूढ न हों जिसको जन साधारण सरलता से समझ सकें, जो तर्क संगत हो, जिससे नृत्य की योजना की जा सके, जिसमें विभिन्न रस हों और कथानक में संधियों का पूर्ण निर्वाह हो ।

यह काव्य विवेयन व्यापक है । इसमें लालित्य प्रसाद, रस और कथानक योजना आदि तत्वों को काव्य में स्वीकार किया गाय है ।

भरत के पश्चात आचार्य भामह काव्य लक्षण को इस प्रकार बताय है

''शब्दार्थों सहितौं काव्यम्''

अर्थात शब्द और अर्थ से युक्त रचना को काव्य कहते है । भामह के इस लक्षण में दोष यह है कि शब्द और अर्थ से युक्त तो वे व्याकरण, दर्शन आदि के ग्रंथ भी होते है जो काव्य नहीं कहे जाते । इसका व्याख्या करते हुए डॉ. नगेंद्र कहता है - सहित् अर्थात सांमजस्यपूर्ण शब्द, अर्थ को काव्य कहते है । अर्थात भामह ने शब्द और अर्थ के सामंजस्य को काव्य की संज्ञा दी ।

इसी प्रकार आचार्य दंडी ने काव्य को 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्न पदावली' कहा । अर्थात अभिलषित अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली कहा है ।

भामह और दंडी के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शब्द शैर अर्थ का सामंजस्य ही काव्य सौन्दर्य है, और वह अलंकार से अभिन्न है ।

डॉं. प्रेम स्वरूप गुप्त के अनुसार भामह ने अपने पूर्ववर्ती. आचार्यों के दो वर्गों का उल्लेख किया है । एक वर्ग काव्य में अर्थालंकोरों का समर्थक है और दूसरा शब्दलंकारों का । अर्थालंकार समर्थक आचार्यों का कथन है

कि अर्थालंकार काव्य के अनिवार्य तत्व है। जिस प्रकार वनिता का सुन्दर आनन बिना आभूषणों के सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार अर्थालंकारों के बिना काव्य सौष्ठव नहीं बन पाता।

शब्दालंकार समर्थक की मान्यता है कि काव्य में अर्थालंकार चाहे हो या न हों, पर उसमें शब्दालंकारों का होना परम आवश्यक है। क्योंकि काव्य के लिए अर्थालंकार इतने चमत्कार पूर्ण नहीं होते, जितने शब्दलंकार होते है।

प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा भामह के काव्य लक्षण को इस प्रकार समर्थन किये

''वक्राभिदेयशब्दोक्ति रिष्टा वाचामलंकृति :''

अर्थात वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का सौन्दर्य है। इस प्रकार भामह के अनुसार काव्य का लक्षण हुआ - वक्रता समन्वित शब्द और अर्थ वस्तुतः 'अलंकृत शब्दार्थ' और वक्रता समन्वित शब्दार्थ में कोई मूल अंतर नहीं है , क्योंकि भामह वक्रोक्ति के अभाव में किसी भी अलंकार को स्वीकार नहीं करते।

संस्कृत काव्य शास्त्र के भामह की तरह शब्दार्थ को काव्य माननेवालों की विशाल परंपरा है। आचार्य रूद्रट ने - ''ननु शब्दार्थों काव्यम्'' कहकर शब्द और अर्थ के काव्यानुकूल अनेक विशेषताओं की व्याख्या की है। तथा चारूतापूर्ण शब्द और अर्थ के उत्पादन पर ही बल दिया है। आनंदवर्धन और अभिनव गुप्त ने भी शब्दार्थ को ही काव्य माना है ।दोनों ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर बताकर ध्वनि को उसकी आत्मा माना है। आचार्य कुन्तक ने भामह के लक्षण की पूर्ण रूप से स्पष्ट करके लिखा है - आह्लादकारक कवि व्यापार से मुक्त सुन्दर रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। इस लक्षण का तात्पर्य यह हैं कि अर्थ के वाचक अनेक शब्द होते हैं किन्तु कवि को उनमें से ऐसे शब्द का प्रयोग करना पडता है जो उसके विवक्षित अर्थ को पूर्णतः प्रकट कर सके। साथ ही इतना रमणीय भी हो कि सहृदयों को आह्लादित कर सके। इसी प्रकार की शब्द योजना को कहा जाता है।

आचार्य मम्मट ने एसे शब्दार्थ को काव्य माना है जो दोष रहित और गुण सहित हो। अलंकारों का प्रयोग चाहे हो या न हो। आचार्य मम्मट के अनुसार गुण तो काव्य के निम्न धर्म है और अलंकार अनित्य। गुण काव्य की शोभा को संपादित करता है। अलंकार उसकी अतिशयता को बढाता है। इसीलिए मम्मट ने काव्य में गुणों की अनिवार्यता को माना और अलंकारों को वैकल्पिक।

इस परम्परा से नितान्त भिन्न आचार्य दण्डी है।

''शरीर तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।''

अर्थात काव्य का शरीर तो इष्टार्थ से युक्त - पदावली होता है । डा. नग्रेद्र ने इस लक्षण की भामह के काव्य लक्षण से समता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द और शब्द अर्थ का साहित्य या सामंजस्य एक ही बात है । वयों कि शब्द इष्ट और अर्थ की अभिव्यक्ति तभी कर सकता है, जव शब्द और अर्थ में पूर्ण सामंजस्य या सहभाव हो । डा. गुप्त ने इष्टार्थ का अर्थ अलंकार करके इस काव्य लक्षण का विश्लेषण किया है

''दण्डी के इष्टार्थ की सीमा अर्थालंकारों तक ही सीमित प्रतीत होती है, जिसमें अधिक से अधिक रसबद आदि अलंकार भी सम्मिलित किए जा सकते है । इस प्रकार दण्डी के अनुसार अर्थालंकार सौदंर्य से विशिष्ट पदावली काव्य है ।

संस्कृत काव्य शास्त्र के महत्वपूर्ण आचार्य पंडितराज जगन्नाथ का काव्य लक्षण है

''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्''

अर्था रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द ही काव्य कहते है । जितना ज्ञान से लोकोत्तर अर्थात् अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो, वह अर्थ रमणीय है । पंडितराज ने इस लक्षण की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है ''जिस शब्द अथवा शब्दों के अर्थ की भावना करने से इिसी अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो, उसको अथवा उनको काव्य कहते है ।

काव्यत्व केवल शब्द में ही रहता है । अर्थ तो उसकी रमणीयता है । काव्य का प्रतिपाद्य शब्द के दवारा ही प्रतिपादित होता है । अतः काव्य में शब्द ही मुख्य है, अर्थ तो उसकी विशेषता है । पण्डितराज ने काव्य लक्षण में रमणीयता को सन्निहित करके इसे पर्याप्त व्यापक बना दिया है । इस शब्द के अन्तर्गत आनंदवर्धन का लोकोत्तर अहलाद, वामन का सौन्दर्य, दण्डी का इष्टार्थ, और कुन्तक का वक्रता जन्य आह्लाद आदि सभी तत्व आते है। इस प्रकार यह लक्षण सर्वाधिक पूर्ण माना जा सकता है ।

हिन्दी आचार्यों के काव्य - लक्षण :

हिन्दी में भी एसे आचार्यों की परम्परा पाई जाती है, जिन्होंने काव्य के लक्षण प्रस्तुत किए है । रीतिकालीन आचार्यों ने यद्यपि काव्य - विवेचन पर्याप्त विस्तार से किया है, तथापि इनके विवेचन में प्रायः मौलिकता का अभाव है । अधिकांशत : संस्कृत के आचार्यों का ही अनुकरण किया है ।

रीतिकाल में आचार्य चिन्तामणि का काव्य लक्षण ही सर्वप्रथम देखा जाता है । इनके काव्य लक्षण पर आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण का गंभीर प्रभाव दिखता है । आचार्य मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में अलंकारों की वैकल्पित स्थिति को मानी है तो चिन्तामणि ने गुण और अलंकार की समान स्थिति को स्वीकार की है । अर्थात गुणों

के समान अलंकारों को भी अनिवार्य माना है ।

आचार्य सोमनाथ ने काव्य लक्षण में छंद को जोड़ जिया है । हिन्दी में आचार्य भिखारीदास अपने काव्य लक्षण में अलंकार, रस, ध्वनि और गुणों का समावेश किया है ।

हिन्दी के आधुनिक आचार्यों या कवियों ने जो काव्य लक्षण दिए हे, उनमें संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण नहीं मिलता । आचार्य महावीर प्रसाद व्दिवेदी ने काव्य में चमत्कार की प्रधानता का अनिवार्य मानते हुए कहते हैं।

''शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परम आवश्यक है । यदि कविता में चमत्कार नहीं, कोई विलक्षणता नहीं तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती ।'' आचार्य रामचंद्रशुक्ल के अनुसार ''हृदय की मुक्तावस्था तथा रस दशा के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती है, उसे काव्य कहते हैं'' । जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तवश्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते है ।

महाकवि जयशंकर प्रसाद के अनुसार ''काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिटसपका सम्बंध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं है ।''

संस्कृत और हिंदी में यदि काव्य लक्षणों के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण किया जाये तो यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दिशा में भारतीय आचार्यों काव्य की आत्मा को पहचान गये है । जो काव्य लक्षण ''शब्दार्यों सहितौ काव्यम'' से आरम्भ हुआ था, वह प्रसाद तक आकर ''आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति'' बन गया है ।

4. रस संप्रदाय

१. रस संप्रर्दाय का इतिहास - रस की अवधाराणा

प्रस्तावना :

पर हर एक मानव का प्रमुख उद्धेश्य आनंद की उपलब्दि है। इस आनांद दि की प्राप्ति की खोज वह सभी क्षेत्तों में निरन्तर करता रहा है। यथा धर्म, दर्शन, भोंतिक जगत, साहित्य साधना आदि। आदिकाल से ही अनेक साहित्यकारों ने साहित्य के क्षेत्त में जिस आनंद की उपलब्धिकी साधना की है उसे रस की पारिभाविक संज्ञा दी गायी है।

'रस' शब्द भारतीय संस्कृति और साहित्य के चरम विकास से सम्बंधित है। भारतीय चिंतन की दीर्धकालिक परंपरा में विभन्न आचार्यों ने रस सिद्धांत का गंभ्रीर विवेचन किया है। भारतीय जीवन के विभन्न क्षेत्तों में रस शब्द का प्रपोग सर्वोंकृष्ट तत्व के लिए होता है। खाद्य पादार्थों और फलों के क्षेत्त में मधुर तरल पदार्थ रस कहा जाता है। संगीत के क्षेत्त में श्रवणेंद्रिय द्रवारा प्राप्त आनंन्द का नाम रस है। चिकित्सा के क्षेत्त में सर्वोत्कृष्ठ प्राणदायिनी औषधियों को 'रस' कहा जाता है। उपुनिषदों में आकर 'रस' शब्द बहमानंद का वाचक बन गया। आद्यात्मिक क्षेत्त में भी स्वयं परमात्मा को ही रस अथवा रस को ही परमात्मा के रूप में माना गया है। 'रसौ बै रसः अर्थात रस ही परमात्मा है। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्त में भी काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनंदानुभूति को ही 'रस' की संज्ञा दी गायी है। 'रसस्यते (आस्वाद्रयाते) इति रसः अर्थात जिस का आस्वादन किया जए, उसे रस कहते है।

इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्त में नाटक और काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनंदानुभूति को रस की संज्ञा दी गई। रस सिद्धांत भारतीय काव्य शास्त्त का मूलाधार एवं महत्वपूर्ण सिद्धांत है। मनुव्य प्रकृति से सौंदर्यप्रिय होता है क्यों कि सौंदर्य के कारण ही अपने मन में रस भर देता है। रस का तात्पर्य आनंद है तथा आनंद का संबध अनुभूति से है। यह अनूभूति दो रूपों मे होती है - (१) साक्षात या स्वयं अथवा प्रतयक्षानुभूति, (२) काव्य या रसानुभूति। साक्षात अनूभूति में मनुष्य अपने व्यक्तिगत संबंधो से जीवन में क्रोध, करुणा, धृणा, प्रेम आदि भावों की अनूभूति करता है, जिसमें दो भाव सुखानूभूति, दुःखा नुभूति मनुष्यमें जागते हैं। काव्य अथवा रसानुभूति में काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि पढने या देखने से सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति होती है। मन की इसी स्थिति के कारण यह अनूभूति 'रस' कहलाती है।

अग्निपुराण में रस के काव्य को जीवन तथा आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में रस को काव्य की आत्मा कहा है। कोई रचना शब्दाडम्बर से भूषित कविता नहीं कहला सकती जब तक उसमें हृदय को छूने वाला चमात्कार न हो। इस प्रकार चमत्कार ही रस का प्राण या सार है।

भरतमुनि का रस सूत्र :

रस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनित्त माने जाते है । इन्होंने रस को नाटक अथवा काव्य की आत्मा ब्दबताया था । रस शब्द का प्रयोग साहित्यिक समीक्षा क्षेत्त में सर्वप्रथम इन्ही के दवारा हुआ । इस के पूर्व यह शब्द दर्शन शास्त्त के क्षेत्त में ब्रहम तथा चिकित्साशास्त्त में विभिन्न औषधियों के रस के अर्थ में प्रयुक्त होता याा । भरतमनि ने रस की निष्पत्ति या भावोदवेलन के लिए आवश्यक तत्वों का विवेचन करते हुए भावनाओं से संबंधित मुख्यतः तीन अवयव या अंगों को रस सूत्र में इस प्रकार बताया हैं. -

''विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस निष्पत्ति :''

अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।

आचार्य मम्मट ने इस सूत्र को और स्पष्ट शब्दों में रख दिया है । उन्होंने लिखा है कि लोक में जो कारण होते है, उन्ही को साहित्य में विभाव कहते है । इसी प्रकार लोक में जो 'स्थायी भाव' की उत्पत्ति के पश्चात् काव्य रूप व्यापार दिखायी पडते है उन्हे अनुभव कहते हैं, और जो इनके पोषक क्षणिक भाव हुआ करते हैं, उन्हे ''संचारी भाव'' कहते है । इनसे पोषित होने पर स्थायी भाव रस की स्थिति को प्राप्त होता है ।

रस गंगाधर ने लिखा है - स्थायी भाव चित्त में चिरकाल तक वासना रूप से स्थित रहता हुआ आलम्बन से सम्बन्ध रहता है, वह विरोधी संचारी संचारी भावों से भी विच्छिन्न नहीं होता तथा आश्रय के हृदय में जीवन के दीर्ध भाग तक स्थित रहता है, जैसे प्रेम नामक चित्त वृत्ति ।

रस के विभन्न अवयव :

'विभाव' : इस से तात्पर्य है - कारण या निमित्त । जो निमित्त हृदय की अनूभूतियों की तरंगित या उद्बोध करते हैं, वे विभाव है । विभाव दो प्रकार के होते है - आलंबन विभाव और उददीपन विभाव ।

आंलबन विभाव : मानव हृदय में भावनाओं का प्रस्फुटन कल्पना द्रवारा ही होता हें । अर्थात भावों का उदगम जिस मुख्य भाव या वस्तु के कारण हो, वह काव्य में आलंबन कहा जाता है । ये भावों के जागृत होने के मुख्य कारण है । दूसरे शब्दों में काव्य नाटक आदि में वर्णित जिन पात्रों का आलंबन करके सामाजिक के हृदय में स्थित रति आदि स्थायी भाव रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं, उन्हे आलंबन विभाव कहते हैं । जैसेः नायक, नायिका को देखकर प्रसन्न होता है या सिंह को देखकर हमोर हृदय में भय उत्पन्न होता है । यहाँ नायिका और सिंह आलंबन है । उदा : पुष्पवाटिका के प्रसंग में सीता को देखकर, सीता के प्रति राम के हृदय में रति भाव जाग्रत होता है । यहाँ सीता आलंबन है ।

उद्‌दीपन विभाव :

जिन के माध्यक से भाव उददीप्त हो उठें। आलंबन को अधिक तीव्र और प्रभावशाली बनाने वाले वातावरण उद्‌दीपन कह लाता है। जैसे - वाद्य, प्रकृति, वातावरण, शीतलवायु, शत्रु के साथ सेना, युद्ध के बाजें वर्णन आदि। आलंबन यदि आग लगाने वाले अंगार है तो उददीपन अनुकूल हवा की भाँति उसे बढाने में योग देता है। जिस व्यक्ति के हृदय में आलंबन और उद्‌दीपन के प्रभाव से भाव की उत्पत्ति होती है उसे आश्रय कहते हैं।

अनुभाव

हृदयगत भावों के उद्‌वेलन से आश्रय की शारीरिक और मानसिक अवस्था में थोडा - बहुत परिवर्तन आजाता अर्थात अंतस्थ भावों को प्रकट करनेवाले अंग विकार शारीरिक चेष्टाऐं आदि अनुभाव कहलाते है। ये भावों के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। नाट्‌यशास्त्र में भारतमुनि ने इन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है - वाणी और अंगों के अभिनय दवारा जिस से अर्थ प्रकट है सात्विक और कायिक।

सात्विक :

सात्विक विकारों के रूप में आनेवाले अनुभाव सात्विक अनुभाव कहलाते हैं अर्थात सहजरूप से या स्वभाविक रूप से प्रकट होते है। जैसे - स्वेद, रोमांच, स्वर भंग, क्रोध आदि।

कायिक अनुभाव :

आश्रय दवारा आलंबन को प्रभावित करने के लिए या उस से प्रभावित होने के परिमाण स्वरूप, जानबूझकर, प्रयत्न पूर्वक की गयी चेष्टाएँ या अपनी इच्छा से व्यक्त करने वाले चेष्टाऐं कायिक अनुभाव कहलाते हैं। जैसे - जोर से हंसना, क्रोध के कारण मारने के लिए हाथ उठाना आदि।

संचारीभाव या व्यभिचारी भाव :

संचारी से ताप्पर्य है संचरण करने बाले। जो स्थायी भाव के साथ साथ संचरण करते हैं, जो भाव हमोर हृदय में स्थिर रूप में विद्यमान रहता है, उन्हे संचारी भाव कहते हैं। एक रस के स्थायी भाव के साथ अनेक संचारी भाव आते हैं। ये संचारी भाव प्रत्येक स्थायी भाव के साथ उस के अनुकूल बनकर चल सकते हैं। एक ही संचारी भाव अनेक स्थायी भावों के साथ हो साकता है। इसलिए इन्हे व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है। भरतमुनि ने संचारी भोवों का विवेचन अभिनयात्मक रूप में किया है। भारतीय आचार्यो ने इन संचारी भावों की संख्या ३३ मानी है। जैसे : निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, आलस्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, हर्ष आदि।

स्थायी भाव :

रस रूप में जिन की परिणति हो सकती है वे स्थायी भाव है । माने जो भाव हमारे हृदय में स्थिर रूप में नित्य विद्यमान राहता है क स्थायी भाव है । कारण के अनुपस्थित रहने पर उन की सत्ता रहती है । संचारी भावों से स्थायी भाव इसी दृष्टि से पृथक है । क्योंकि कारण के अभाव में संचारी भाव निःशेष हो जाते हैं । अतः स्थायी भाव एक स्थिर मनो दशा दे । और संचारी अस्थिर है । स्थायी भाव अधिक प्रबल होते है - अविरुद्ध और विरूद्ध भाव उसका नाश नहीं कर सकते । स्थायी भावों की स्थिति वास्तव में जीवन के उन नैसर्गिक तीव्र और व्यापक मनोविकारों की है, जो मानव स्वभाव के आधारभूत अंग है, जिन्हे साधारणतः मूल मनोवेग कहा गया है । इन मनोवेगों का सीधा संबंध मानव आत्मा के मूलभूत गुण राग दवेष से हें ।

सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विश्मय इन आठ स्थायी भावों का उल्लेख किया है । बाद में निर्वेद वात्सल्य तथा भक्ति को भी जोडे गए ।

रस		**स्थायी भाव**
श्रृंगार	-	रति
वीर	-	उत्साह
करुणा	-	शोक
हास्य	-	हॉस
शांत	-	निर्वेद
भयानक	-	भय
भीबत्स	-	विस्मय
भक्ति	-	भक्ति
वात्सल्य	-	वात्सल्य या पुत्र स्नेह / प्रेम

एक ही स्थायी भाव के बीच - बीच में परिस्थितिवश अनेक भावों का भी संचार होता रहता है । उदाहरण के लिए प्रेम के क्षेत्त में प्रिय के मिलनपर हर्ष उसके वियोग पर दुःख उत्सकी अपेक्षा पर क्षोभ, उसके अहित की आशंका पर चिन्ता आदि भावों की अनुभूति होती - इन्हें संचारी या 'अभिचारी भाव' कहा जाता हे । 'संचारीभाव'

स्थायी भाव में सहायक होते हैं किन्तु उनकी आयोजना प्रतिकूल रूप में हो तो वे बाधक भी सिद्ध होते है । काव्य में स्थायीभाव को पुष्ट करने के लिए उसके आनुकूल संचारियों की ही आयोजन की जाती है ।

इस प्रकार स्थायी भाव आश्रय के हृदय में आलम्बन के दवारा उन्तेजित होकर, उद्दीपन के प्रभाव से उद्दीप्त होकर, संचारी भाावों से पुष्ट होता हुआ अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होता है । जब काव्यगत स्थायीभाव की अनुभूति पाठक को होती है तो वही रसानुभूति है ।

रससिद्धांत का महत्व :

मनोविज्ञान के अतिरिक्त दर्शन, साहित्य समाज आदि की दृष्टि से भी रस - सिद्धांत महत्वपूर्ण है । शुद्धाद्वैत के अनुसार आत्मा परमात्मा के तीनों गुणों सत्, चित्, और आनंद - से युक्त होती है, किन्तु जब का आनंद गुण तिरोहित रहता है । काव्य और कलाओं के दवारा इसी आनंद को जागृत किया जाता है । रस सिद्धांत भी काव्य का सही लक्ष्य - आनंन्दानुभूति - स्वीकार करता है।

युग और देश के अनुसार समीक्षा के मानदण्ड बदलते रहते हैं किन्तु रस - सिद्धांत एक ऐसा मानदण्ड है जो सभी युगों और सभी देशों की काव्य शचनाओं की समीक्षा का आधार बन सकता है । जब तक साहित्य का सम्बन्ध मानवीय भावनाओं से रहेगा तब तक रस सिद्धांत का महत्व अक्षुण्ण है ।

5. रस निष्पत्रि

भारतीय काव्यशास्त्र मे रस का महत्वपूर्ण स्थान है और रस काव्य शास्त्र का मूलाधार है। इसलिए भारतीय काव्य शास्त्र में रस निष्पत्ति का अत्यधिक महत्व दिया गया है। रस निष्पत्ति के प्रथम आचार्य भरत मुनि है। उन्होंने इस पर विचार करते हुए कहा -

'विभावानुभावव्य भिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः

आर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भोवों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस का स्वरूप उपस्थित करते समय वे रसास्वादन के प्रश्न पर मौन हरे, किन्तु आगे इस पर पर्याप्त वाद विवाद हुआ। भारत मुनि के इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द को लेकर परवर्ती औचार्यो ने भिन्न - भिन्न अर्थ करके अपने मतों की स्थापनाएँ की है।

भरत की व्याख्या : संयोग और निष्पत्ति की चर्चा करते हए भरत मुनि ने कहा - जैसे नाना प्रकार के व्यंजनों के उपभोग करते हुए हम नाना रसों का आस्वादन करते है, और हर्ष आदि का अनुभौव करते है, उसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक नाना भावों के अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भोवों का आस्वादन करते है और आनन्दित होते हैं।

इससे यह ध्वनित होता है कि 'संयोग शब्द को' संसर्ग या संगम के अर्थ में ही स्वीकार किया गया है। निष्पत्ति का अर्थ भरत के इस कथन में देखा जा सकता है।

''जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त हो कर स्थायी भाव भी नाट्य आदि कलाओं में रस-रूप प्राप्त करता है'' ।

नाट्य या काव्य रस लौकिक रसों की भांति न निष्पन्न होता है और न बनता है, वरन रस रूपता को प्राप्त करता है। अतः भरत के अनुसार 'निष्पत्ति' का नाट्य या काव्य रस के संदर्भ में अर्थ हुआ - निश्शेष रूप से सिद्ध की स्थिति प्राप्त कारना। अतः भरत के अनुसार विभाव, अनुभव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भावों के साथ संयोग से रस की सिद्धि होती है।

भट्ट लोलट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद :

भट्टलोलट को भरत सूत्र का प्रथम व्याख्याता माने जाते है। इनका कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त तथा आचार्य मम्मट के अभिनव भारती और ध्वन्यालोक लोचन तथा काव्य प्रकाश में भट्टलोलट का मत मिलता है। इनके विचार इस प्रकार है -

- विभावादि के साथ स्थायी भाव के संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है।
- विभाव स्थायी भाव की उत्पत्ति का कारण है।
- स्थायी भाव जब अन्य भावों, विभाव, अनुभाव एवं संचारी से मिलकर पुष्ट होता है, तभी रस की निष्पत्ति होती है।
- अनुपचित स्थायी भाव रस नहीं स्थायी भाव है
- व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के संस्कार रूप में रहते हैं।
- रस मूलतः तो अनुकार्य में ही रहता है। अनुकर्ता (नट आदि) अनुकार्य का स्वयं पर आरोप करके उसके अभिनय के कारण चमत्कृत होकर रस प्राप्त करते हैं।

भलोल्लट के अनुसार रस मूलत : तो अनुकार्य में ही रहता है। अनुकर्ता (नट आदि) अनुकार्य का स्वयं पर आरोप करके उसके अभिनय के कारण चमत्कृत हो कर रस प्राप्त करते है। इसीलिए भट्टलोल्लट के मत को आरोपवाद कहते है। इन्होंने संयोग शब्द के तीन अर्थ किये हैं। स्थायी भाव, विभाव के साथ उत्पद्य उत्पादक सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, अनुभाव अनुमाप्य - अनुमापक सम्बन्ध से अनुमिति कराते है, और संचारी भाव पौष्य - पोषक सम्बन्ध से उनकी रसरूप में पुष्टि करते हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ उत्पत्ति है, इसीलिए इनके मत को उत्पत्तिवाद भी कहते हैं। अतः इनके अनुसार भरत सूत्र का अर्थ हुआ

'स्थायी भाव विभावों ने उत्पाद्य - उत्पादक सम्बन्ध से उत्पन्न होकर, अनुभावों से अनुमाप्य - अनुमापक भाव से अनुमति होकर और संचारी भावों में पौध्य - पौषक सम्बन्धमें परिपुष्टि होकर रस की उत्पत्ति करते है।

शंकुक का अनुमितिवाद :

शंकुक नैयायिक थे। उनकी व्याख्या का आधार न्याय - दर्शन है। शंकुक का अब तक कोई ग्रंथ उपल्ब्द नहीं हुआ है। आचार्य अभिनव गुप्त और आचार्य मम्मट के आधार पर ही उनके मत पर विचार किया जाता है।

काव्यों के अवलोकन से तथा शिक्षा से सिद्ध अपने (अनुभव) कार्य से, नट से ही प्रदर्शित किये जाने वाले, कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्द से व्यवहृत होने वाले, कार्य और सहकारियों के साथ संयोग अर्थात् गम्य - गमक भाव रूप सम्बन्ध से अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौंदर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव यहाँ न रहते हुए भी सामाजिक के द्रवारा आस्वाद किया हुआ 'रस' कहलाता है ।

शंकुक के मत को डॉ. राजवंश सहाय हीरा ने शंकुक के मत को इस प्रकार प्रस्तुत किय है

१. स्थायी भाव की उपस्थिति मुख्यत : आहार्य या रमादि में होती है । अत : वे ऐतिहसिक अनुकार्य और कवि निबद्ध अनुकार्य में अन्तर स्पष्ट कर रस की स्थिति कवि - निबद्ध अनुकार्य में ही स्वीकार करते हैं ।

२. अनुकर्ता के अभिनय कौशल से ही प्रभावित होकर दर्शक अनुकर्ता में रस की शिथति का अनुमान करता है, वस्तुत : उसमें रस की स्थिति नहीं होती है । सामाजिक अनुकर्ता में रस के अनुमान का आनंद लाभ करता है ।

अर्थात स्थायी भाव का अभिनय ही रस का कारण बनता है । इस कारण रस अंततः - भाव पर आश्रित एक कलात्मक स्थिति है । शंकुक इस शंका का भी समाधान करते हैं कि सहृदय को रसानुभूति कैसे होती है उनके अनुसार ''अनुमिति ही सहृदय या प्रेक्षक की रसानु भूति का कारण बनती है अर्थात् प्रेक्षक इस रस का नाट्यशाला में प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के द्रवारा अनुमान करता है । इस 'अनुमान' के आधार पर उनके मत को अनुमितिवाद की संज्ञा दी गयी ।

संयोग और निष्पत्ति का अर्थ शंकुक के अनुसार क्रमशः अनुमान और अनुमिति ही स्वीकार किया जा साकता है ।

भट्टनायक का भुक्तिवाद या भोगवाद :

भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याता है भट्टनायक इन्होंने संयोग का अर्थ भोष्य - भोजक - भाव और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति किया है । इसीलिए इनके मत को भुक्तिवाद कहा जाता है ।

भट्टनायक के अनुसार रसास्वाद का सीधा सम्बन्ध दर्शक या पाठक से ही है, अनुकार्य अथवा अनुकर्ता से नहीं । उनका मत है कि अनुकार्य में रस की उत्पत्ति मानने पर नट और प्रेक्षक दोनों से ही उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता । सामाजिक रस को अनुकार्यगत समझने लगता है, उसका वह अनुमान नहीं कर सकता और अभिनेता भी पदगत भवों को कुशल रूप से अभिनय में नही उभार सकता । अतः यह स्थिति तटस्थ या उदासीनता की होगी और रसास्वादन में बाधा आ जायेगी ।

रस की प्रत्यक्ष प्रतीति स्वभाव नहीं मंच पर रति क्रीडा देखकर लज्जा का भाव ही जग सकता है, आनन्द का नहीं फिर राधा कृष्ण, शिव पार्वती का प्रेमालाप रति भाव न जगाकर पूज्यभाव के निकट ही ले जायेगा, इसी कारण उन्होंने साधारणीकरण, को स्वीकार किया ।

उन्होंने काव्य की तीन शक्तियाँ मानी । पहली अभिधा जिसके माध्यम से शब्दार्थ का ज्ञान होता है । दूसरी भावकत्व जिससे वैयक्तिक भाव से मुक्ति प्रप्ति होती है और यह साधारणीकरण में भी सहायक होती है । तीसरी भोजकत्व इसके द्रवारा साधारणीकरण की स्थिति में सहृदय रस का भोग करता है । उन्होंने रसानुभव का स्थान सहृदय के चित्त को ही माना ।

इस सिद्धांन्त में संयोग का अर्थ भावक भाव्य सम्बन्ध ही है, जिसमें विभावादि भावक है और स्थायी भाव भाव्य । निष्पत्ति का अर्थ 'भावित होना' स्वीकार किया जा सकता है । अतः यह माना जा सकता हैं कि विभावादि के संयोग से स्थायी भाव भावित हो कर रस रूप में परिणत हो जाते हैं ।

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद :

भट्टनायक पर अनेक आक्षेप लगाकर अभिनवगुप्त ने भरत सूत्र की अलग व्याख्या करके रस सिद्धां त का विवेचन किया है । इन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ, अभिव्यक्ति किया इसलिए इनके मत को अभिव्यक्ति कहा जाता है । इनका विवेचन 'शैवदर्शन' पर आधारित है, अतः इन्होंने रस को आनंदस्वरूप माना है । इनके अनुसार स्थायी भाव सहृदय के मन में सदैव विद्यमान रहते हैं । वे दृश्य, दर्शन या श्रावण से जाग्रत होकर रस का रूप ग्रहण कर लेते हैं। नाटक अथवा काव्य के उपकरणों दवार साधारणीकृत होकर देश, काल, स्व, पर व्यक्तिवादी राग दवेष आदि की चेतना से मुक्त होकर रति आदि भाव आस्वाद्य अथवा सुखमय प्रतीत के साधन बन जाते है । यह आस्वादय भाव और उसकी सुखमय प्रतीति ही रस है । रसास्वादन में रस की प्रतीति, सहृदय या सामाजिक की आत्मा ही करती है, पर यह प्रतीत व्यक्तिगत नहीं होती । साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर नहीं समिष्टि के धरातल पर होता है । स्थायीभाव प्रत्येक सामाजिक के चित्र से संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं, संस्कार रूप होने के कारण ही वे समान भी होते हैं । काव्य में वर्णित विभाव आदि के पठन - श्रवण से या नाटक के दर्शन से ये संस्कार रूप स्थायीभाव उदबुद्ध, अवस्था को प्रप्त होकर या अभिव्यक्त होकर सामाजिकों के आनन्द के कारण बनते हैं ।

अभिनव गुप्त ने 'संयोग का अर्थ व्यंग्य - व्यंजक भाव' माना है । अतः इनके अनुसार भरत - सूत्र का अर्थ हुआ

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से व्यंग्य - व्यंजक, भाव में रस की अभिव्यक्ति होती है । अभिव्यक्ति शब्द वास्तविकता के अधिक निकट प्रतीत होता है, क्योंकि समूचे काव्य का व्यापार कलात्मक कार्य अभिव्यक्ति होता है ।

6. साधारणीकरण :

साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है - व्यक्ति का विलयन, निर्वेक्तिकरण, सम्बन्ध - विशेष का त्याग, असाधारण को साधारण रुप में प्रस्तुत कर देना आदि । साधारणीकरण बह सामान्यीकृत अनुभव है जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वेयक्तिक रुप में दिखाई पडती एवं अनुभूत होने लगती हैं ।

साधारणीकरण की प्रक्रिया ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सहदय अपने मानवीय हृदय दवारा काव्य या जीवन के विभावादि को सामान्यीकृत अथवा मानवीय रुप में ग्रहण करता है । इस प्रक्रिया से सहृदय, काव्य या नाटक का मूलापात्र (अनुकार्य) दोनों कालगत तथा स्थानगत विशिष्ट उपाधियों की कोडकर सामान्य रुप धारण कर लेता है । साधारणीकरण का व्यापार विशिष्ट भवों की वैयक्तिक अनुभूति को रस - रुप मे परिणत कर सामाजिक को भी उसकी अनूभूति करा देता है । अर्थात यह क्रिया, पाठक, श्रोता, दर्शक कवि सबके हृदय में घटित होती हैं ।

भरतमुनि ने भरत सूत्र ''विभावानु भव व्यभिचारि - संयोगाद्रस निष्पत्ति'' की व्यारव्या आचार्यो ने की उनमें सर्व प्रथम भट्टनायक ने साधारणीकरण शब्द का प्रयोग किया और उनका स्वरूप समझने का प्रयत्न किया ।

भरतसूत्र की जो व्याख्या की थी उस पर यह आक्षेप लगाया गया था कि सहृदय पाठक या श्रोतामूल नायक - नायिका अथवा कवि निर्मित पात्रों के भावों से किस प्रकार रसास्वाद प्राप्त कर सकता है । भट्टनायक ने इसी का समाधान करते हुग 'साधारणीकरण सिद्धांत' को प्रस्तुत किया । उनका कथन है कि दर्शक अभिधा शक्ति से नायक - नायिका के संवादों का अर्थ ग्रहण करता है और फिर भावकत्व व्यापार द्रवारा उनका भावन करता है । इस व्यापार के द्रवारा विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का साधारणीकरण हो जता है । भावना - व्यापार का सम्बन्ध कवि कर्म से हैं । अतः भट्टनायक के साधारणीकरण में बल विभावादि को साधारणीकरण पर भले ही हो, पर उन्हे कवि-कर्म का साधारणीकरण अभीष्ट है । उनके साधारणीकरण विनेचन में सहृदय कवि निरूपते विभावादि को सामान्यीकृत रुप में उपनी अनूभूति का विषय बनाने की, उसके हृदय में सत्वोद्रेक होने की बात भी कही गई है । अतः सहृदय के साधरणीकरण की बात उन्हें मान्य है ।

भट्टनायक के कथन की व्याख्या का श्रेय अभिनव गुप्त की हे । उनका मत है कि साधरणीकरण द्रवारा कवि निर्मित पात्र व्यक्ति - विशेष न रहकर सामान्य प्राणी बन जाते है, वह देश काल की सीमा में आबद्ध न रहकर सार्वदेशिक बन जाता है । अर्थात वे भाव जो काव्यगत नायक - नायिका में व्यक्तिगत संबंध के कारण होते है, नाटक देखने अथवा काव्य - पठन से सहृदय पाठक में साधारणीकृत हो जाते हैं । उनमें से ममत्व तथा परत्व की भावना निकल जाती है ।

इसके बाद धनंजय ने साधारणीकरण तत्व पर प्रकाश डाला । उन्होंने रसास्वाद तक पहुँचने के लिए दो सोपान बानाया । पहले सोपान पर काव्यगत नायक - राम आदि पात्र धीरोदात्त, धीर प्रशांन्त, नायकों की अत्रस्था के द्रयोतक होते हैं । दूसरे सोपान पर काव्यागत पात्र अपने विशेष व्यक्तित्व को रामत्व, सीतत्व आदि को छोडकर सामान्य पुरुष और स्त्रीमात्र बन जाते हैं । और तब सहृदय को रसास्वाद प्रदान करते है । उनका कथन यही है कि काव्य दर्शन के या पठन - पाठन के समय नायक के प्रति सहृदय का पूर्व संस्कार जन्म विशिष्ट भाव लुप्त हो जाता है । उसके सम्मुख एतिहासिक व्यक्ति के स्थान पर केवल कवि निर्मित पात्र रह जाता हैं । धनंजय की व्याख्या का महत्व वही है ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चिंतामणि प्रथम भाग में साधारणीकरण संबंधी नवीन मान्यताएँ एवं व्याख्याएँ उपस्थित की जो इस प्रकार है -

साधारणीकरण का अभिप्राय यह कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन होता है ।

जिस व्यकित विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में बह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है । साधारणीकरण आलंबन कर्म का होता है । व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है । जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मत में प्रक ही भाव का उदय थोडा या बहुत होता है । जहाँ पाठक या दर्शक, पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रुप में स्थित होता है, वहां भी - उस पात्र का आलचन पाठक या दर्शक का आलंबन नहीं होता, बल्कि बह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलंबन रहता है । इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्मय और साधारणीकरण होता है। तादात्मय कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिस के अनुरुप वह पात्र का स्वरूप संधठित करता है।

डा. नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल की रसात्मक की मध्यम कोटि की बात को ध्यान में रखकर यह मान्यता प्रस्तुत की कि साधारणीकरण न तो आश्रय का होता है नआलंबन का, अपितु यह कवि की अनुभूति का होता है । डॉ. नगेंद्र आलंबन को कवि को अपनी अनूभूति का संवेद्य मानते है और उनकी इस मान्यता में पर्याप्त बल तथा सार - तत्व भी है । कवि की अनुभूति की उपेक्षा तो किसी भी स्थिति में नहीं की जा सकती, साधारणीकरण चाहे हो न हो ।

डा. नगोंद्र की रसाव्याख्या मनोविश्लेपणात्मक है, अतः वह कवि के मन का विश्लेषण करते है उसके आंतरिक पक्ष अनूभूति कविता में प्रधान वस्तु है । सहृदय इसी कथ्य को पढता है और इसी के शाधारणीकृत होने पर रसास्वाद की भूमिका तैयार होती है । जबतक कवि के हृदय में सीमित रहेगी, तथ्य का आकार धारण नहीं करेगी, तब तक सहृदय उसे जान ही सकता, उसका संबध तो कवि की अनुभूति से तभी स्थापित होगा जब वह

आकार धारणा कर लेगी अतः रसास्वाद की स्थिति प्राप्त करने के लिए विभावादि सभी का साधारणीकरण आवश्यक है । केवल कवि की अनूभूति का नहीं । भले ही डा. नगेंद्र ने इसे स्पष्ट शब्दों में कहा हो पर जव वह कहते है कि - कवि वही हे जो अपनी अनूभूति का साधारणीकरण कर पाता है, अपनी अनूभूति की अभिव्यक्ति द्रवारा अन्य सभी के अन्तर के समान अनूभूति जागृत कर देता है, तो अप्रत्यक्ष रूप से वे भी विभावादि सभी का साधारणीकरण मानते हैं । क्योंकि विभावादि कवि की अनूभूति के ही जो संवेद्य, रूप है । अतः कहा जा सकता है कि कवि की अनूभूति के साथ - साथ विभावादि का साधारणीकरण भी अनिवार्य है ।

ध्वनि संप्रदाय

प्रस्तावना :

भारतीय काव्य - शास्त्र के इतिहास में ध्वनि सम्प्रदाय सब से अधिक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय माना जाता है । ध्वनि से तात्पर्य स्वर अथाव आवाज से है । अर्थात् जिससे ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे ही ध्वनि कहते है ।इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने ध्वनि की उद्भावना कर काव्य के भीतर निहित अन्तस्तत्व की व्याख्या की है । अत्त तक जिन काव्य तत्वों का उदगम तथा विकास साहित्य शास्त्र में होता आयै था उन सभ का ध्वनि के सामंजस्य दिखाना इन आचोयों का गौरवपूर्ण कार्य है ।

अलंकारवादियों ने ध्वनि का प्रयोग पाँच अर्थों में किया है

१) ध्वनियति य : व्यज्यक शब्द : स ध्वनि - उस व्यंजक शब्द को ध्वनि कहते हैं, जो ध्वनि करे या करये ।

२) ध्वनित ध्वनयति वा यः स व्यंज्यकः अर्थ ध्वनि : बह व्यंजक अर्थ ध्वनि है, जो ध्वनि करे या कराये।

३) ध्वनयते इति ध्वनि - जो ध्वनित हो, उसे ध्वनि कहते है ।

४) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि - जिसके दवारा ध्वनि की उत्पति होती है, वही ध्वनि है ।

५) ध्वन्यतेअस्मिन्निति ध्वनि : उस काव्य को ध्वनि कहते हैं, जिसमें वस्तु अलंकार एवं रस ध्वनित होते हैं ।

ध्वनि सम्प्रदाय :

ध्वनि सिद्धांत की स्थापना का श्रेय नवम शताब्दी के आचार्य आनंद वर्धन को प्राप्त होता है । तब से आज तक हजार वर्षों के दीर्घकाल में इसका महत्व अक्षुण्ण हरा । प्रतिहारेन्दु राज, कुन्तक, भट्टनायक तथा महिम भट्ट जैसे उद्भट

विद्वानों के हाथों ध्वनि - सिद्धांत को प्रबल विरोधों का सामना करना पडा था । यो विशेध साधारण आलंकारिकों के सामान्य विरोध न होकर साहित्य शास्त के मर्मज्ञ विद्वानों के उग्र प्रहार थे । परन्तु भीतरी जीवट के कारण यह सिद्धांत उस परीक्षाग्नि में खरा उतारा और आजकल तो यह साहित्य संसार का सर्वस्व है ।

व्सतुत्त : आनन्दवर्द्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों - भारतमुनि, भामह, दण्डी, वामन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं स्वीकार किया है । सम्भवत : आनन्दवर्द्धन अअपने सिद्धान्त की प्रचीनता सिद्ध करने के लिए यह स्वीकार करते है ।

यथार्थ : शब्दौ वा तमर्थमुपसजर्नीकृत स्वार्थो
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरितिसुरिभि : कथित : ।

अर्थात जहाँ शब्द अथवा अर्थ अपने अर्थ का त्याग करके किसी विशेष अर्थ (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति कराते हैं, विदवानों ने उसे ध्वनि कहा है ।

ध्वनि संप्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है तथा ध्वनि का संबंध व्यंजना शक्ति से है - उतः ध्वनि - सिद्धांत को सम्यक् रूप से समझने के लिए पहले शब्द - शक्तियों का परिचय होना आवश्यक हैं ।

शब्द शक्तियाँ :

शब्द की महत्ता उसके अर्थ से ही है । अर्थ रहित शब्द ध्वनि मात्र माना जाता है,क्योंकि सार्थक शब्दों के समूह को ही वाक्य कह सकते हैं, जो एक विशिष्ट अर्थ की व्यंजना कराने में समर्थ होता है । शब्द की जो शक्ति अर्थ का बोध कराती है, उसे ही शब्द शक्ति कहा जाता है । शब्द के अर्थ के आधार पर शब्द शक्तियाँ के तीन रूप माने गये अभिधा, लक्षणा व्यंजना ।

अभिधा शब्द शक्ति : जिस शक्ति के माध्यम से संकेतार्थ, मुख्यार्थ, वाच्यार्थ या कोषगत अर्थ का बोध होता है, उसे अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं । शब्द का सर्वमान्य प्रचलित अर्थ अभिधा का बोध कराता है ।

लक्षणा शब्द शक्ति : अभिधा के अनन्तरी दूसरी महत्व पूर्ण शब्द शक्ति लक्षणा है । इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है - ''मुख्यार्थ की बाधा होने पर रुढि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के दवारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा कहते है ।'' अर्थात जहाँ शब्द का मुख्यार्थ, संकेतार्थ, वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाय उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं । इस अर्थ को प्रकट करने वाली शक्ति लक्षणा शब्द शक्ति होती है।

व्यंजना शब्द शक्ति : अभिधा और लक्षणा से भिन्न अर्थ शक्ति को व्यंजना कहा जाता है । साहित्य दर्पणकार के शब्दों में अपना ''अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ बोधन होता है । वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहने वाली वृत्ति व्यंजना कहलाती है'' । यह वह शक्ति है, जो बाह्य सौंदर्य के रेशमी पर्दे को हटाकर काव्य के वास्तविक लावण्य को व्यवत करती है । इसीलिए इसे व्यंजना माना गया है । वयोंकि यह एक विशेष प्रकार का अंजन है अर्थात् अभिधा या लक्षणा द्वारा अप्रकाशित अर्थ को प्रकाशित कर देता है । व्यंजना के दवारा व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ कहते हैं ।

ध्वनि की परिभाषा :

ध्वन्यालोककार के अनुसार :

प्रीतयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्त तप्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यभिवाङ्गनासु ।।

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य विशेष को विदवानों ने ध्वनि कहा हैं ।

जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कही अधिक चमत्कार पूर्ण हो उसे ध्वनि कहते है । अर्थ मुख्यत : दो प्रकार के होते हैं - वाच्य और प्रतीयमान । वाच्य के अन्तर्गत अलंकार आदि का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का । काव्य में वस्तु स्थिति के अवलोकन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि हो सकती है । किसी सुन्दरी के शरीर में जिस प्रकार प्रत्येक अंग तथा अवयव से भिन्न लावण्य की पृथक सत्ता विद्यमान रहती है उसी प्रकार काव्य में भी उसके अंगों से पृथक चमत्कार जनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता वर्तमान रहती है ।

काव्य शास्त्र के इतिहास में ध्वनि की कल्पना आलोचकों की बडी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है । काव्य ग्रंथों में तो ध्वनि विदयमान ही थी । लेकिन आनन्दवर्धन से पहले किसी ने उसे काव्य का महनीय तथा स्वतंत्त तत्व स्वीकार नहीं किया था । इस सन्दर्भ में आनन्द वर्धन का गौरव इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के दवारा इस काव्य तत्व को अन्य काव्यांगों से पृथक कर स्वतत्त स्थान दिया । वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है । परन्तु उसकी समीक्षा कर उसे काव्य तत्व का एक प्रधान सिद्धांत बताकर व्यवस्थित रूप देना साधारण बुद्धि के आलोचक काम नहीं था । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इस तत्व की पहली मार्मिक व्याख्या की है ।

काव्य शास्त्र के इतिहास में ध्वनि की काल्पना आलोचकों की बडी सूक्ष्मबुद्धि की परिचायिका है । काव्य ग्रंथों में तो ध्वनि विदयमान ही यीं लेकिन आनन्दवर्धन से पहले किसी ने उसे काव्य का महनीय तथा स्वतंन्त तत्व स्वीकार नहीं किया था । इस संदर्भ में आनंद वर्धन का गौरव इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के दवारा इस काव्य तत्व को अन्य काव्यांगों से पृथक कर स्वतंन्त स्थान दिया । वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है । परन्तु उसकी समीक्षाकर उसे काव्य तत्व का एक प्रधान सिद्धांत बताकर व्यवस्थित रूप देना साधारण बुद्धि के आलोचक का काम नहीं था । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इस तत्व की पहली मार्मिक व्याख्या की है ।

ध्वनि शब्द तथा तत्व के लिए काव्यशास्त्र के लोग वैयाकरणिकों के ऋणी है। व्याकरण के अनुसार कानों को जो शब्द सुनायी पडता है, वह अनित्य है, उससे किसी अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। घट सब्द में घ अक्षर के उच्चारण के समय में टकार की स्थिति ही नहीं है और टकार के उच्चारण के समय घ उच्चरित हो कर आकाश में विलीन हो चुका है। ऐसी दशा में 'घ' और 'ट' इन दोनों वर्णों के एकत्र होने का संयोग ही उपस्थित नहीं होता और बिना दोनों से संयोग हुए अलग - अलग वर्णों से अर्थ प्रतीति भी नहीं होती। इसीलिए वैयाकरण लोग एक ऐसे नित्य शब्द कीकल्पना करते है जिससे अर्थ फूटता है - आविर्भूत होता है। ''स्फुटित आर्थों में अस्मादित स्फोट'' : इस व्यत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द से फूटता है, अभिव्यक्त होता है वह स्फोट कहलाता है। यही नित्य तथा आदर्श शब्द है जो पूर्वापर क्रम से विहीन है, अखण्ड है तथा एक रस है। इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है जिसका हम उच्चारण करते है। इसे ही ध्वनि कहते है। वैयकिरणों के ध्वनि शंब्द को लेकर काव्य शास्त्रों ने विस्तृतीकरण किया है। व्याकरण में ध्वनि ता केवल अभिव्यंजक शब्द के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है परन्तु साहित्यशास्त्र में इसका प्रयोग अभिव्यंजक शब्द अर्थ दोनों के लिए होने लगा। ध्वनि सिद्धांत का यही मूल है।

अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन नामी व्याख्या में ध्वनि सम्बन्धी समस्त ध्वनियों का निराकरण किया है। उन्होंने रस और ध्वनि के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते हुए रस के कारण ही ध्वनि को महत्व दिया और यह भी कहा कि व्यंजना व्यापार के दवारा ही रसकी सिद्धि संभव है। उनके अनुसार रस का बोध व्यंग्य दवारा होता है और रस का रहस्योदघाटन व्यंजनावृत्ति दवारा ही हो सकता है। अभिनवगुप्त रसात्मक सौन्दर्य से युक्त ध्वनि को ही काव्य मानने के पक्ष में अपना मत व्यक्त करते हैं और केवल ध्वनि में काव्य सौंदर्य स्वीकार नहीं करते ।उनके अनुसार वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों में अंततः रस की ही प्रतीति होती है। वे ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर भी उसे काव्य का सर्वस्व स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार काव्य में शब्दार्थ गुणालंकार संयुक्त रसात्मकता की चारूता का होना अत्यन्त आवश्यक ह।

मम्मट - ध्वनि सिद्धांत को व्यवस्थित करने का श्रेय इन्ही को है। इनके अनुसार जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में चमत्कार हो, वही उत्तम (ध्वनि) काव्य होता है। मध्यम काव्य में व्यंग्यार्थ या तो वाच्यार्थ के समान चारू होता है या वाच्यार्थ से कम चमत्कारक होता है। अधम काव्य में व्यंग्यार्थ का नितांत अभाव रहता है और उसमें शब्द एवं अर्थगत चारुता रहती है।

ध्वनि भेद :

ध्वनिकार ने ध्वनि के भेदों का निरूपण दो प्रकार से किया है। व्यंग्य रूप से तथा व्यंजक रूप से। इनके अनुसार अर्थात शब्द शक्तियों के आधार पर ध्वनि के दो भेद किए गए हैं।

१) अभिधामूला और २) लक्षणामूला

अभिधामूल : इसके मूल में तो अभिधा को होना स्वाभाविक है । अर्थात अभिधामूल में सीधे अभिधेय अर्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है । इसके पुन : दो भेद है ।

(अ) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि : जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम स्पष्ट न हो या दिखाई न पडे, अर्थात जहाँ वाच्यार्थ के साथ - साथ ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है - दोनों के बीच में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, वहाँ असंलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते है ।

उदा : अरे । यह तो यहाँ रूपये का दो छटाँक मिलता है ।

इसका व्यंग्यार्थ है कि यहाँ महँगाई बहुत है ।

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के पुनः छः प्रकार है - पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत।

(आ) संलस्यक्रम ध्वनि : जिस ध्वनि के वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम अच्छी तरह दिखाई पडे अर्थात वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बोध होने का क्रम प्रतीता हो जाता है । इसके तीन भेद - शब्द शक्त्युद्‌भव, अर्थ शक्त्युद्‌भव और शब्दार्थोंभय शक्त्युद्‌भव भव किये गए हैं ।

लक्षणामूला : इसमें मूल वाच्यार्थ उपेक्षा होती है । अर्थात इसके मूल में लक्षणा को स्वीकार किया गाया । मूल वाच्यार्थ की उपेक्षा दो कोटियों में हाता है । इनके आधार पर लक्षणामूला के दो प्रकार होते हैं ।

अ) अर्थातंर - सक्रमित - वाच्य ध्वनि : इसके मूल में उपादान लक्षणा को मानकर यह कहा गाय कि जहाँ वाच्यार्थ अन्यार्थ में संक्रमण कर जाये, वहाँ यह ध्वनि होती है । उदा : राखी सजी पर कलाई नहीं हैं । यहाँ कलाई का व्यंग्यार्थ भाई की कलाई या वह भाई जिसका राखी बाँधी जा सके । स्पष्ट है कि यहाँ कलाई का र्थ संक्रमित हो गया है ।

आ) अत्यंत तिरस्कृत ध्वनि : जहाँ मुख्यार्थ का एकदम तिरस्कार हो जाय या वाच्यार्थ का सर्वभा त्याग हो । उदा : पेट में तो चूहे कूद रहे है । यहाँ व्यंग्यार्थ में चूहे शब्द का अर्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है ।

और एक अन्य प्रकार से ध्वनि काव्य का वर्गीकरण किया गया है जे निम्न प्रकार है ।

१) रसध्वनि २) अलंकार ध्वनि ३) वस्तु ध्वनि

रसध्वनि के भीतर केवल नव रसों की गणना नहीं होती प्रत्युत भाव, उनके अभास, भावोदय, भावशतलता, भाव सन्धि आदि की भी गणना है । वस्तु ध्वनि वहाँ होती है जहाँ किसी तथ्य कथन मात्र की अभिव्यंजना की जाय । अलंकार ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त किया गाय पदार्थ इतवृत्तात्मक न होकर कल्पना प्रसूत हो, जो अन्य

शब्दों में प्रकट किये जाने पर अलंकार का रूप धारण करता है ।

इन तीनों में रस ध्वनि को ही श्रेष्ठ माना जाता है । महाकवि वाल्मीकि के हृदय में क्रौन्ची वध के कारण क्रौन्ची के करूण क्रन्दन को सुनकर शोक का जो प्रबल भाव जग, वही श्लोक रूप में स्वतः प्रकट हो गया । यही रस ध्वनि है । महत्वपूर्ण होने से वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है । वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि का तो सर्वधा इसमें ही पर्यवसान होता है । इसलिए वे वाच्य से उत्कृष्ट अवश्य होते हैं । ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथना है । वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है आलोचकों का यही परिनिष्ठित मत है तेन रस एवं वस्तुतः आत्मा । वस्त्वलंकार ध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यात उत्कृष्टा तौ इत्तभिप्रायेण ध्वनि काव्यात्मा इति सामान्येन उक्तम् ।''

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते है अ) ध्वनि काव्य आ) गुणीभूत व्यंग्य इ) चित्र काव्य

ध्वनि काव्य में वाच्य से प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक होता है । यही सबसे उत्तम काव्य है । जिस काव्य में व्यंग्य तो रहता है परंतु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते है । चित्र काव्य में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से ही काव्य में चमत्कार आता है । यह अधम कोटि का काव्य माना जाता है । जो रस के तात्पर्य को बिना समझे कविता करने में प्रवृत्त होते है उन्ही अव्यवस्थित कवियों की वाणी चित्र काव्य की ओर झुकती है । परिपक्व कवियों की कविता का लक्ष्य सदा रसमय काव्य की ही रचना होती है ।

स्फोट सिद्धांत :

ध्वन्यात्मक शब्द के मूल में, जिसे हम नित्य शब्द की श्रेणी में परिगणित करते हैं, स्फोट सिद्धांन्त का काम करता है । वैयाकरणों के यहां स्फोट सिद्धांतानुसार यह माना जाता है कि शब्द का उच्चारण करने के अनन्तर अनित्य वर्णात्मक शब्द तो नष्ट हो जाते हैं , किन्तु इन वर्णो. के अतिरिक्त पूर्ण वर्णों के अनुभव सहित अंतिम वर्णों के अनुभव से व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करानेवाला अखण्ड एवं नित्य शब्द, स्फोट रूप में ही रहता है । इसी के दवारा शब्दों के माद्यम से अर्थ बोध होता है । इसका तात्पर्य यह है कि जब हम किसी शब्द के पहले वर्ण का उच्चारण करते हैं तो उसका अनुभव उस अनित्य वर्णों के नष्ट होने के अन्तर भी बना रहता है । जब हम अन्तिम वर्णों के अनुभव सहित अंतिम वर्णों के अनुभव दवारा व्यंग्य अर्थ को प्रतीति होती है ।इस अनुभव का हेतु वह स्फोट रूप में रहनेवाला अखण्ड शब्द ही है । इस प्राकर वैयाकरण अपने स्फोट सिध्दांत के अंतर्गत, अर्थ बोध की प्रक्रिया का समाधान शब्दों को दो कोटि - नित्य शब्द एवं अनित्य शब्द मानकर करते हैं ।

ध्वनि और गुण :

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धांत के अनुसार गुण और अलंकार को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है । गुण वे ही धर्म होते हैं जो रस लक्षण मुख्य अर्थ के ऊपर अवलम्बित रहते है । जिस प्रकार शौर्य तथा वीरता आदि धर्म उसकी आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं और उसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्य के मूलभूत रस के ऊपर आश्रित रहते हैं । अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहने वाले अनित्य धर्म है । जिस प्रकार मनुष्य के हाथ की अंगूठी पहले उसके हाथ की शोभा बढाती है और बाद में उस मनुष्य का आत्मा को भी सुशोभित करती है, उसी प्रकार अनुप्रसादि शब्दालंकार शब्द को, उपमा आदि अर्थालंकार अर्थ के ऊपर आश्रित होकर इन्ही अंगों को सुशोभित करते हैं । इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य धर्म । अलंकारों की स्तिति काव्य में हो या न हो, परन्तु युग की स्थिति तो आवश्यंभाषी है ।

ध्वनिविरोधी अभिमत :

क्या, गुण अलंकार आदि से पृथक ध्वनि नाम का भी कोई अलग तत्व होता है - यह शंका भी अनेक बार अनेक विदवानों दवारा उठाई गयी है । इतना ही नहीं, ध्वनि के विसेधियों ने तो ध्वनि के मूलाधार व्यंग्यार्थ तक के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया है ।ध्वनि विसेधियों के मुक्यत : ये चार वितर्क हैं १. व्यंजना की अभिधा से पृथक सत्ता नहीं है । २. व्यंजना की लक्षणा से पृथक सत्ता नहीं है । ३. प्रतीयमान अर्थ या तथाकथित व्यंग्यार्थ अनुमान से ग्रहण होता है, अतः व्यंजना और ध्वनि को मानने की आवश्यकता नहीं । ४. ध्वनि का समन्वय समासोक्ति अप्रस्तुत - प्रशंसा आदि अलंकोरों में किया जा सकता है ।

ध्वनि विशेधी आचार्यों ने इन चार वितर्कों को नजर में रखते हुए अपने अपने विचार व्यक्त किए हैं ।

१. मुकुल भट्ट - इन्होंने केवल अभिधा को मान्यता दी और उसी के छः भेदों में ध्वनि को समाहित कर दिया।

२. प्रतिहारेन्दुराज - इन्होंने ध्वनि सिद्धांत का खण्डन करते हुए इसका अन्तर्भाव अलंकार में माना ।इन्होंने समस्त ध्वनि प्रपंच का अलंकारों में समावेश कर ध्वन्यालोक के अनेक उदाहरणों को अलंकार का रूप मान लिया।

३. भट्टनायक - इनका ग्रंथ हृदयदर्पण है जिसमें इन्होंने इस सिद्धांत का खण्डन किया है जो अब उपलभ्ध नहीं है ।

४. घनंयज - धनिक : इन्होंने अभिधा और लक्षणा शवितयों को तो मान्यता दी है,पर व्यंजना को अमान्य घोपित किया है । ये रस को व्यंजना का आधार नहीं मानते । इनके अनुसार 'व्यंजन' में ध्वनि का होना भी आवश्यक नहीं है । इनका निष्कर्ष है काव्य न ता व्यंजक है और न रसादि व्यंजक है ।काव्य भावक है और रसादि

भाव्य हैं। सहृदय के मन में होने वाली स्थायीभाव की वर्णना को ही भावना कहते है। सहृदय के हृदय में रसादि स्वत : स्फुरित होते है और काव्य उनके विशिष्ट विभावों द्वारा उनकी भावना कराता है।

५. कुन्तक - इन्होंने ध्वनि का समाहार वक्रोक्ति में करने का प्रयास किया। अतः ये उसकी मान्यता भले ही न कर सके हों,पर खंडन भी नहीं किया है।

६. महिम भट्ट - ये तो ध्वनि के प्रबल विरोधी है। इन्होंने अनुमान या अनुमति में ही ध्वनि के समस्त भोदों का अंतर्भाव कर उसके अस्तित्व पर ही आघात किया। इन्होंने मात्र अभिधा को ही महत्व दिया।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अन्तर :

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में निश्चित रूप से अन्तर है, इसे स्पष्ट करने के लिए हमारे आचार्यों ने अनेक स्पष्ट आधार निश्चित किये है, जो इस प्रकार हैं।

(क) बोधा के अनुसार वाच्यार्थ की प्रितीति प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है, जत्त कि व्यंग्यार्थ कुछ व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

(ख) स्वरूप - वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भी प्राया : अन्तर होता है। उदाहरण के लिए यदि कहा जाय कि आप तो बहुत दुबले हैं तो इसका व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से बिलकुल उलटा होगा।

(ग) संख्या - वाच्यार्थ प्राय : एक ही होता है जव कि व्यंगयार्थ अनेक हो जाते हैं।

(घ) निमित्त - वाच्यार्थ केवल शब्द ज्ञान से ही समझ में अ सकता है जब कि व्यंगयार्थ को समझने के लिए प्रतिभा एवं बुद्धि भी अपेक्षित है।

(ड) काल - वाच्यार्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है जब कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति उसके अनन्तर होती है।

(च) कार्य - वाच्यार्थ से केवल विषय का ज्ञान होता है जब कि व्यंगयार्थ आनन्द या चमात्कार भी उत्पन्न करता है।

(छ) आश्रय : वाच्यार्थ केवल शब्दों पर आश्रित रहता है जब कि व्यंग्यार्थ शब्द अर्थ, वक्ता के लहजे, प्रसंग आदि पर निर्भर होता है।

धवनि संप्रदाय का महत्व :

धवनि - सिद्धांत का महत्व इसी में नहीं है कि यह काव्य के अन्तस्तत्व को अभिव्यक्ति करता है, प्रस्युत वह कला के मूल तत्व को भी स्पर्श करना है। ध्वनि मत रस मत का ही विस्तृतीकरण प्रतीत होता है। प्रारंभ में रस सिद्धांत का अध्ययन मुख्यत : नाटक के ही संबंध में ही किया गया था। इनके अनुसार रस कभी वाच्य नहीं होता प्रत्युत न व्यंजना वृत्ति के दवारा व्यक्त होता है। नाटक का मुख्य अभिप्राय रस उन्मीलन है। और इसी उन्मीलन के लिए साधारणतः विस्तृत काव्य रचना की आवश्यकता होती है। यदि एक ही रमणीय पद्य हो तो यह हम नहीं कह सकते कि उससे पूर्ण रस की अभिव्यक्ति हो सकती है। अतः यदि हम रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करें तो ऐसे स्फुट या मुक्तक पद्य काव्य के क्षेत्त से बहिष्कृत हो जाते हैं। रस वाच्य न होकर व्यंग्य ही होता है।

उतः इसी युक्ति को स्वीकार कर ध्वन्यालोक ने चमत्कार पूर्ण व्यंग्य अर्थ से समन्वित कविता को ही उत्तम काव्य माना है। आनन्द वर्धन का स्पष्ट विचार है "मभमेवाहि महाकार्व मुंख्यो व्यापारी यत् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकत्य सदृव्यकत्यनुगुजत्वेन शब्दानामर्था नाज्योप निबन्धमू" अर्थात् महाकिवि का मुख्य व्यापार है कि वह रस भाव को ही काव्य का मुख्य अर्थ मानकर उन्ही शब्दों अर्थों की रचना करे जो उसकी अभिव्यक्ति के अनुकूल हों। रस काव्य और नाट्य दोनों का जीवन भूत हैं। इस प्रकार के आनंद वर्धन के विवेचन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने भरत के रस मत का ही विकासितकर अपने ध्वनि मत का विस्तार किया। ध्वनि सिद्धांत की यह सब से बडी उपलब्धि है।

औचित्य सम्प्रदाय

प्रस्तावना

औचित्य सम्प्रदाय परम्परा - सिद्धांत

औचित्य का इतिहास

औचित्य के प्रकार

औचित्य के अंग

पाश्चत्य काव्य शास्त्र और औचित्य

उपसंहार

औचित्य संप्रदाय :

औचित्य शब्द का अर्थ है - उचित का भाव। उचित शब्द से भाव वाचक व्यञ् प्रत्यय होकर औचित्य शब्द बनता है। भारतीय काव्य शास्त्र के क्षेत्त में पॅंच प्रमुख संप्रदाय रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति - प्रतिष्ठित हो चुके थे किन्तु फिर भी काव्य के आधारभूत तत्व के सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका था। इतना ही नहीं अनेक सम्प्रदायों की स्थापना के बाद भी काव्य की आत्मा सम्बन्धी विवाद सुलझा नहीं सके थे। आचार्य क्षेमेंद्र ने औचित्य सिद्धांत की स्थापना की और उन्होने प्रतिपादित किया कि काव्य में रस, गुण, अलंकार आदि सभी का महत्व है किन्तु इनका औचित्य समन्वित होना आवश्यक है। औचित्य के आभाव में काव्य सौंदर्य के उपकारक ये सभी तत्व व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार औचित्य - सम्प्रदाय इन सब के लिए उचित समन्वय का सन्देश लेकर साहित्य शास्त में अवतीर्ण हुआ। काव्यशास्त में औचित्य शब्द का अर्थ अत्यंत व्यापक है। भाव, रस, अलंकार, रीति आदि कवि कर्म को समस्त प्रक्रिया औचित्य के अन्तर्गत आती है। औचित्य शब्द का प्रयोग न करते हुए भी भरत मुनि से लेकर परवर्ती आचार्यों ने उन सब बातों को काव्य के लिए आवश्यक बताया है जो औचित्य के अन्तर्गत आती हैं।

औचित्य - सम्प्रदाय परम्परा - सिद्धांत :

यद्यपि औचित्य की एक पृथक सम्प्रदाय के रूप में स्थापना आचार्य क्षेमेंद्र को ही है किन्तु उनसे पूर्व भी अनेक आचार्य इसकी चर्चा विभिन्न संदर्भों में कर चुके थे। काव्य में औचित्य की कल्पना का प्रथम निर्देश हमें भरतमूनि में उपलब्ध होता है किन्तु इसको विशद् व्याख्या करने का श्रेय आनन्द वर्धन को है। काव्य में औचित्य

की पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था और रस भंग की व्याख्या से अवसर पर उन्होंने वह सर्वमान्य तत्व प्रतिपादित किया है

अनौचित्याद ऋ ते नान्यद रक्षभंगस्य कारणम् ।

औचित्यो पनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा ।।

उनके अनुसार अनौचित्य ही रसभंग का कारण है । अनुचित वस्तु के सन्निवेश में रस का परिपाक काव्य में उत्पन्न नहीं होता । औचित्य के दवारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन काव्य में रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है । क्षेमेंद्र ने अपने ''औचित्य विचार चर्चा'' में आनन्द वर्धन के ध्वन्यालोक से स्फूर्ति ग्रहण करके औचित्य के नाना प्रकारों को विशिष्ट विवेचन किया । उनके अनुसार उचित का जो भाव औचित्य कहलाता है -

उचितं प्राहुराचार्याः सहरूतं किल यस्य यत् ।

उचितस्व च यो भावो तदोचित्यं प्रचाक्षते ।।

अर्थात जो वस्तु अथवा तत्व किसी के निश्चय ही अनुरूप हो, उसे आचार्यों ने उचित कहा है । उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है ।

वे औचित्य को काव्य का प्राण तत्व स्वीकार करते हैं -

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।

इस प्रकार वे इसे रस का भी प्राण स्वीकार करते हैं । वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उचित स्थान के प्रयोग के बिना अलंकारदि भी गुण - युक्त नहीं हो पाते ।

''औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते, नालंकृतिर्नोगुणः ।'' क्षेमेंद के मत से औचित्य के अभाव में सौन्दर्य सृष्टि अथवा सौंदर्यानुभूति सम्भव नहीं है । स्त्री एवं पुरुष दोनों का उदाहरण देते हुए क्षेमेंद ने औचित्य की बात इस प्रकार की है ।

''कण्ठे मेखलय, नितम्बफलके तारेण हारेण वा

पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर पाशोन वा ।

शोर्येण प्रणते, रिपौ करूणया, नायन्ति के हास्यताम

औचित्येन बिना रूचिं प्रतनुते, नालंकृतिर्नो गुण :''

औचित्य के अभाव में गुणों एवं अलंकारों की शोभाहीनता बताने के साथ क्षेमेन्द्र ने इनके उचित प्रयोग को शोभा का जनक बताया है

''उचित स्थान - विन्यासादलंकृतिर्लकृति :

औचित्यादच्युता नित्यं भवन्तेव गुणा : गुणा : ।''

अर्थात उचित स्थान पर प्रयोग करने से अलंकार शोभा वृद्धिकारक होते हैं । इसी प्रकार औचित्य से च्युत होने वाले गुण ही वास्तव में गुण होते हैं ।

क्षेमेंद ने औचित्य को काव्य की आत्मा क्यों कहं कि सभी तत्वों - रस का रसत्व, अलंकार का अलंकारत्व आदि औचित्य के कारण ही महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि गुणों का यदि उचित रूप में विधान न हो सका तो काव्य - शोभा क्षीण हो जायेगी ।

औचित्य का इतिहास :

भरतमुनि - भरतमुनि का उद्‌देश्य नाटक के सम्बन्ध में विचार करना था । उन्होंने नाटक को लोक की अनुकृति बताते हुए अनुरूपता पर बल दिया है । पात्रों की वेशभूषा एवं गतिविधि में अनुरूपता (सामंजस्य) पर बल देते हुए भरत मुनि ने कहा सर्वप्रथम नाटक के पात्रों की वेशभूषा उनकी अवस्था के अनुरूप होनी चाहिए । वेशभूषा के अनुसार ही पात्रों की गति होनी चाहिए । गति के प्रचार के अनुरूप वचन एवं वचन के अनुरूप उनका अभिन्यन होना चाहिए ।

यद्यपि उन्होंने औचित्य शब्द का नामोल्लेख नहीं किया है, पर नाटक के विवेचन में उन्होंने इसके महत्व को स्वीकार किया है । उन्होंने औचित्य के निर्णायक तत्व का उल्लेख करते हुए लोक व्यवहार को उसका नियामक माना है, शास्त्र को नहीं । इस प्रकार के विवेचन के दवारा भरत औचित्य के भावदर्शी आचार्य सिद्ध होते है । उन्होंने नाट्यशास्त में नाटक के परमतत्व रत्स का वर्णन औचित्य की दृष्टि से ही किया है, जिसे वे अनुरूपता की अभिधा प्रदान करते हैं ।

भामह - इन्होंने भी औचित्य का उल्लेख न करते हुए उसके स्थान पर 'सन्निवेश विशेष' शब्द का प्रयोग किया है । विशेष सन्निवेश अर्थात औचित्यपूर्ण विधान होने पर दोषपूर्ण उक्ति भी उसी प्रकार शोभा की जनक हो जाती

है, जिस प्रकार मालाओं के बीच में रखा हुआ नीला पलाश पत्र। भामह की दृष्टि में उक्ति का उतना महत्व नहीं है, जितना उसके संयोजन अथवा विन्यास का। संयोजन सन्निवेश अथवा विधान का तात्पर्य लोक व्यवाहारानुमोदित औचित्य से ही है। उचित संसर्ग के लिए अश्रय सौंदर्य शब्द का प्रयोग करते हुए भामह ने स्पष्ट किया कि - सुन्दरी के लोचन में लगे हुए काले अंजन के समान आश्रय के साधारण सौन्दर्य के कारण असाधु वस्तु (शोभारहित) शोभायुक्त हो जाती है, इस प्रकार शब्दों के उचित प्रयोग की चर्चा करते हुए भामह ने औचित्य तत्व की प्रतिष्ठा की हैं।

दण्डी - इन्होंने औचित्य के स्यान पर दोष परिहार शब्द का प्रयोग किया है। इन्होंने कवि कौशल को दोष परिहार का कारण माना है। दोषों की उत्पति अनुचित संयोग से होती है। कवि कौशल अर्थात उचित तत्वों के सन्निवेश से दोष भी अपना मार्ग छोडकर गुण का स्थान प्राप्त कर लोता है। यहाँ गुण शब्द के विषय में दण्डी ने कहा है गुण शब्द का अर्थ औचित्य ही है। गुण का मूल है औचित्य और दोष का मूल है - अनौचित्य।

उद्‌भट ने काव्यालंकारसार संग्रह में ऊर्जस्वि अलंकार के निरूपण में औचित्य का उल्लेख किया है। उसका आशय है कि अनौचित्यपूर्ण रसभाव आदि के प्रयोग में उर्जस्वि एवं उसके औचित्यपूर्ण बोध में रस, भाव की स्थिति होगी।

रूद्रट ने औचित्य का वर्णन आधिक विस्तार से किया है। उन्होंने काव्य में अनुप्रास के प्रयोग में औचित्य का विचार किया है तथा उसे ही इसका प्रधान निष्कर्ष बतलाया है। काव्य के विविध तत्वों के नियोजन में रूद्रट ने उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग का कथन किया है। वृत्तियों का निबंधन संतुलित एवं समुचित हो. तभी सौन्दर्य की उत्पत्ति हो सकती है।

आनन्दवर्धन का इस क्षेत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इन्होंने गद्य रचना में छन्दों के नियामक न होने और पद्य रचना में औचित्य सम्बन्धी सभी नियमों का न्विर्वाह उचित बताया है। सर्गबद्ध काव्य में रस के अनुसार औचित्य होना चाहिए। छन्दों के नियम के अतिरिक्त यही पर विशेष बल दिया है। औचित्य को रस का सबसे प्रबल कारण मानते हुए इन्होंने लिखा है

''अनौचित्यादृते नान्यत रसभङ्गस्व कारणम्।''

अर्थात अनौचित्य अर्थात औचित्यके अभाव से अधिक रस भंग का दूसरा कारण नहीं है।

अभिनतगुप्त ने औचित्य को काव्य की आत्मा माानने एवं काव्य में औचित्य को रस से अधिक महत्व देने

का प्रबल विशेध किया । इनके विचार से प्रकाश तो रस ही है । औचित्य तो सम्बंध विशेष का नाम है । ये यह अवश्य स्वीकार करते है कि रस, ध्वनि के रूप में ही उन्मीलित होता है । औचित्य का अस्तित्व रस की सत्ता का प्रमाण है ।इन्होंने काव्यौचित्य, रसौचित्य भावौचित्य आदि के भंग के कराण काव्याभास, रसाभास, भावाभास आदि की उत्पत्ति स्वीकार की ।

कुन्तुक ने वक्रोक्ति सिद्धांत का समर्थन करते हुए औचित्य के महत्व को स्वीकार किया है । इन्होंने औचित्य के दो प्रकार माने और वृत्यौचित्य अलंकासौचित्य, रीत्यौचित्य आदि का कथन रस वर्णवक्रता के अन्तर्गत किया।

औचित्य के प्रकार :

आचार्य क्षेमेंद्र ने कहा कि औचित्य ही रस का जीवभूत है, प्राण है तथा काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने वाला है । उन्होंने औचित्य की स्थापाना करते हुए उसके छः प्रकार निश्चित किये हैं ।

१. रसौचित्य : काव्य में रस का उचित रूप से प्रतिपादन तब तक असंभव है जब तक कि उसमें रस की उचित व्यवस्था न हो । रसौचित्य के लिए ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने दस नियमों का प्रतिपादन किया है । उनके अनुसार शब्द और अर्थ का अचित सामंजस्य, व्याकारण का शुद्ध प्रयोग, अंग रस और अंगी रस का उचित समन्वय, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का औचित्य पूर्ण वर्णन आदि नियम प्रमुख है । रसौचित्य के सम्बन्ध में इतना अवश्य है कि काव्य में रस के विभिन्न अवयवों तथा रसों का समन्वय उचित रूप में होना चाहिए तब ही काव्य में रस परिपाक संभौव है ।

२. अलंकारौचित्य : अलंकार भावों को उद्दीप्त करने वाले होने चाहिए । अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हो । अलंकारों का प्रयोग कवि के लिए प्रयत्न साध्य नहीं होना चाहिए । काव्य में उनका सथान काव्य के सौन्दर्य के उपकारक के रूप में गौण स्थान मिलना चाहिए, काव्य के साध्य के रूप में नहीं । केवल चमत्कार के लिए शब्दालंकारों का प्रयोग नहीं होना चाहिए ।

३. गुणौचित्य : काव्य गुणों का प्रयोग रसानुकूल होना चाहिए । उदाहरण के लिए - माधुर्य गुण का प्रयोग श्रृंगार रस में ओज गुण का प्रयोग वीर रस में होना चाहिए ।

४. संघटनौचित्य : रचना का उद्देश्य रस है इसलिए विभिन्न तत्वों का रसानुकूल प्रतिपादन होना चाहिए।

५. प्रबन्धौचित्य : प्रबन्धगत औचित्य के लिए आनन्दवर्धन ने कुछ नियमों का प्रतिपादन किया है ।

अ) प्रसिद्ध तथा कल्पित वृत्तों में समान अनुपात होना चाहिए ।

आ) वर्ण वस्तु का प्रयोग रस के विपरीत नहीं होना चाहिए ।

इ) अंगी रस के अनुरूप ही प्रासंगिक घटनाओं में विस्तार हो ।

ई) काव्य के मुख्य उद्‌देश्य में बाधा डालने वाली घटनाओं में परिवर्तन करना चाहिए ।

उ) पात्रों में मूल स्वभाव से परिवर्तन नहीं करना चाहिए ।

६. रीतिऔचित्य : काव्य के स्वरूप और वक्रता के अनुरूप रीति का उचित प्रयोग होना चाहिए ।

आचार्य क्षेमेंद ने औचित्य को साहित्य शास्त्र में व्यवस्थित रूप दिया ।

क्षेमेन्द्र के अनुसार :

''औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नाकंकृतिनो गुणा : ।।'' सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है । अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित हैं ।

औचित्य के अंग :

आचार्य क्षेमेंद्र ने काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर उसके विशालतम रूप को ध्यान में रखते हुए औचित्य के २८ अंग या भद विर्धारित किए हैं, जो इस प्रकार है

१. पद, २. वाक्य, ३. प्रबन्धार्थ, ४. गुण, ५. अलंकार, ६. रस, ७. क्रिया, ८. कारक,

९. लिंग, १०. वचन, ११. विशेषण, १२. उपसर्ग, १३. निपात, १४. काल, १५. देश

१६. कुल, १७. व्रत, १८. तत्व, १९. सत्व, २०. अभिप्राय, २१. स्वभाव, २२. सार-संग्रह

२३. प्रतिभा, २४ अवस्था, २५. विचार, २६. नाम, २७. आशीर्वद और,

२८. काव्य के अन्य विविध आंग ।

इन २८ तत्वों को ४ विभागों में विभक्त किया जा सकता है ।

(क) शब्द - पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिग, वचन, विशोषण, उपसर्ग, निपात

(ख) काव्य शास्त्रीय तत्व : प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, सार-संग्रह, तत्व, आशीर्वाद काव्य के अन्य गुण

(ग) चरित्र संबंधी : व्रत, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम

(घ) परिस्थिति संबंधी - काल, देश, कुल, अवस्था

इन आंगों के पर्यालोचन से पता चलता है कि आचार्य क्षमेंद्र ने काव्य की विषय - वस्तु और उसकी शैली - दोनों में ही औचित्य का विधान किया है ।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र और औचित्य :

पाश्चात्य काव्य क्षेत्त में भी औचित्य पर पर्यात्प विचार किया गया है । प्रसिद्ध ग्रीक काव्य शास्त्री अरस्तू ने अपने ग्रंथ पोइटिक्स में चार प्रकार के औचित्य की चर्चा की है ।

१. घटनौचित्य, २. रूपकौचित्य, ३. विशेषणौचित्य, ४. विषयौचित्य

अरस्तू ने अपने दूसरे ग्रंथ 'रेटारिक्स' में भी औचित्य की विशद रूप में विवेचना की है । इसमें शैली सम्बन्धी विभन्न गुणों एवं तत्वों के औचित्य पर विचार किया । लोजाइनस ने अपने तत्व संबधी ग्रंथ में औचित्य की दो प्रकार का माना है - शब्दौचित्य एवं अलंकारैचित्य । यूरोप के क्लासिकल युग में औचित्य की पूरी - पूरी मान्यता रहीं. । इस युग के कवि और आलोचक दोनों की दृष्टि में कला के क्षेत्त शास्त्त तथा लोक का अनुशासन मान्य था। लोक का अनुशासन औचित्य ही है । क्षेमेंद्र ने काव्य समीक्षा के प्रेरक - तत्व जिस प्रकार जीवन लिये थे, उसी प्रकार क्लासिकल समीक्षकों ने भी काव्यालोचन का आदर्श लोक को माना है । यह औचित्य की मूल भावना ही है, प्रकारान्तर से ।

उपसंहार :

औचित्य भारतीय साहित्य शास्त्त का अतीव अंतरंग काव्य तत्व है । वह काव्य के आत्मभूत रस के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखता है । रस के बिन औचित्य की सत्ता मानना मूल के अभाव में पल्लव को सींचना है । काव्य का सर्वत्व तो रस है और इसी रस के अनुरूप न होने पर अनौचित्य माना जाता है । क्षेमेन्द्र का यह कथन औचित्य तत्व का मूल मंत्र है -

औचित्य रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्थ जीवितम् ।

अत : काव्य में रस की सत्ता होने पर ही औचित्य उसे स्थिर जीवनी शक्ति प्रदान करता है । काव्य की

आत्मा रस है और औचित्य काव्य का जीवन है। आत्मा के बिना जीवन जिस प्रकार असंभव है, उसी प्रकार रस के बिना औचित्य की सत्ता अर्थ रहित है। औचित्य का सम्बन्ध रस ध्वनि से है और इसी तत्व का प्रतिपादन दूसरे अलंकारिकों ने किया है। भारतीय काव्य शास्त्र में औचित्य काव्य का बहिरंग साधन न होकर नितान्त अंतरंग, गूढ तथा अतिसूक्ष्म तत्व है। हम औचित्य के सिद्धांत के विश्व साहित्य के इतिहास में भारतीय साहित्य की महती तथा महिमा मण्ड़ित देन मानते है।

II. अ. अलंकार संप्रदाय

१.१. प्रस्तावना

१.२ साहित्य के विभन्न अर्थ

१.३. साहित्य की परिभाषाएँ

१.४. भारतीय काव्य संप्रदोयों का विकास

१.५ भारतीय काव्य लक्षणों का विकास

१.६. काव्य प्रयोजन

१.७. रस संप्रदाय

९.८ रस संप्रदाय का इतिहास - रसकी अवधारण

अ. भरतमुनि का रससूत्र

आ. रस के बिभिन्न अवयव

इ. रस सिद्धांत का महत्व

९.९. रस निष्पत्ति

९.१०. साधारणीकरण

प्रस्तावना :

अलंकार का शाब्दिक आर्थ है - सुशोभित करने वाला या वह जिससे समुशोभित हुआ जाता है ।भारतीय काव्य संप्रदायों में रस के अतिरिक्त शेष संप्रदायों में सब से पुराना अलंकार संप्रदाय ही है । भरत मुनि ने भी नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक की विवेचना की है । छठी शताब्दी के आचार्य भामह ने अलंकार को काव्य की - आत्मा घोषित करते हुए पृथक रूप में अलंकार संप्रदाय को स्थापना की । इनका ग्रंथ

काव्यालंकार है । इसमें उन्होंने अलंकारों का विवेचन किया । अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य भामह को ही दिया जाता है ।

अलंकार संप्रदाय की परम्परा :

भामह का काव्यालंकार छः परिच्छेदों में विभाजित है । इनमें कमशः काव्य शरीर निर्णय, अलंकृत निर्णय, दोष निर्णय, न्याय - निर्णय और शब्दशुद्धि पर विचार किया गया है । भामह ने वक्रोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूल मानते हुए उनकी संख्या ३८ निर्धारित की है । इनके परवर्ती दण्डी ने काव्यादर्श की रचना के दवार अलंकार संप्रदाय की परंपरा को आगे बढाया । इन्होंने ३४ तक ही सीमित रखी और उनका निरूपण किया है । नवीं शताब्दी के उद्‌भट ने काव्यालंकार सार संग्रह के अतिरिक्त 'भामह विवरण' नाम से भामह के काव्यालंकार की टीका भी लिखी है इसमें इन्होंने कुछ नए अलंकारों को जोडकर इनकी संख्या ४१ तक पहुँचादया । रुद्रट ने अपने आव्यालंकार में ६६ अलंकरों का उल्लेख किया है । इनका अलंकार विवेचन वैज्ञानिक माना जाता है । इन्होंने अलंकारों के चार वर्ग कियेवास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष । इन्होंने अलंकार संप्रदाय में प्रचलित परंपरागत भ्रान्तियों का निराकरण किया । इन्होंने रस, भाव आदि को अलंकार के अन्तर्गत मानने का स्पष्ट विरोध किया ।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में अलंकारो का उल्लेख करते हुए सामान्य, विनोक्ति सम और अतदगुण चार अलंकारों की उदभावना की रूय्यक अपने अलंकार सर्वस्व में ६ शब्दालंकार और ७५ अर्थालंकारों की चर्चा की है ।जयदेव का चन्द्रालोक विद्याधर की एकावली विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, अप्पय दीक्षित का कुवालानन्द आदि ग्रंथों में आचार्यों ने अलंकारों का उपने अपने ढंग से विवेचन किया है ।

इनमें मम्मट और विश्वनाथ को छोडकर शेष सभी अलंकार वादी थे, जो अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते थे । इनमें मम्मट ध्वनि को मानते थे और विस्वनाथ रस को ।

अलंकार की परिभाषा :

सामान्य रूप में प्रत्येक शोभावर्धक वस्तु अलंकार कहलाने की अधिकारिणी है । इसकी व्याख्या - अलम् - पर्याप्त + कार - करने वाला अर्धात् शोभा में अत्यधिक वृद्धि करने वाला - करके की गायी, इसको कुछ विदवानों ने इस प्रकार भी प्रस्तुत किया अलम् + कृ + घञ् इसका अर्थ है आभूषण । वैयाकरण इसको इस प्रकार से समझाते हैं + ''अलंकारोति इति अलंकारः'' अर्थात वह जो सुशोभित करता है, अलंकार है । इसी को कर्मवाच्य में इस प्रकार कहा जा सकता है

''अलंक्रियतेऽ नेनेत्यलंकारः'' अर्तात वह, जिसके दवारा शोभा होती है - अलंकार कहलाता है । अलंकार शब्द की व्याख्या एक और प्रकार से भी सम्भव है जिसके कारण द्दष्टा या पाठक अलं - अलं अर्थात बस - बस करने लगता है ।

अनेक आचार्यों ने अलंकार के स्वरुप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है, किन्तु आचार्य भामह, दण्डी वामन और रुद्रट की परिभाषाएँ विशेष विचारणीय है । इनके अतिरिक्त रसवादी आचार्य विश्वनाथ और आचार्य मम्मट की परिभाषाएँ उनके प्रकाश में विचारणीय है ।

भामह ने लिखा है -

''वक्रभिदेय शब्दोक्ति रिष्टा वाचमलंकृतिः ''

अर्थात शब्द और अर्थ की वक्रोक्ति ही वाणी का अलंकार है ।

दण्डी ने लिखा है

''काव्यं शोभाकारन् धर्मान्लंकारन् प्रचक्षते''

अर्थात काव्य की शोभा को बढाने वाले गुण या धर्म अलंकार है । वामन की परिभाषा और अधिक व्यापक है । उनकी व्याख्या है - ''काव्यं ग्राह्यमलंकारन् सौन्दर्यमलंकारः''

अर्थात कोई भी रचना अलंकार के कारण काव्य के रूप में ग्राह्य होता है और अलंकार सौदंर्य का दूसरा नाम है ।

रुद्रट ने :

''अभिधान प्रकार विशेष एवं चालंकाराः'' लिखकर कथन के बैदग्ध्यपूर्ण प्रकारों को ही अलंकार कहा हैं। अलंकारवादी आचार्यों की उपर्युक्त अलंकार - विषयक परिभाषाओं का अध्ययन करने पर एक बात बहुत स्पष्ट प्रतीत होती है कि वे गुण और अलंकार के भेद को स्वीकार नहीं करते थे । रसवादी आचार्यों में विश्वनाथ और मम्मट की अलंकार सम्बंधी परिभाषाएँ विशेष प्रसिद्ध है ।

विश्वनाथ के अनुसार -

''शब्दार्थयोपरस्थिरा ये धर्माः शोभाति शायिन : ।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारा स्ते अंगदादिवत् ।।''

अर्थात जो तत्व हार आदि आभूषणों की तरह अंग रूप से काव्योकी शोभा के विधायक धर्म है, वे अनुप्रास उपमा आदि अलंकार ही है । इन परिभाषाओं में गुण और अलंकारों का भेद प्रकट करके अलंकार व अलंकार्य का भेद दिखाया गया है । इन सब से एक बात निश्चित रूप से प्रकट हो जाती है कि अलंकारों के अभाव में काव्य अपने पूर्ण सौन्दर्य को नहीं प्राप्त हो सकता ।

अलंकार्य और अलंकार का अन्तर :

ध्वन्यालोककार ने रस आदि को अलंकार के रूप में स्वीकार न करने का एक बहुत बडा तर्क दिया था। उनका विचार है कि अलंकार की स्थिति की अवस्था में अलंकार्य का होना भी परमावश्यक होता है । भारतीय काव्य शास्त्रियों ने साहित्य में अलंकार और अलंकार्य में परस्पर अन्तर माना है । उन्होंने वर्णनीय वस्तु को अलंकार्य तथावर्णन शैली या शैलीगत विशेषताओं को अलंकार बताया है ।

उदा : मुख - चन्द्र में मुख अलंकार्य है जब कि चन्द्र अलंकार है ।

काव्य में अलंकार्य न हो तो फिर अलंकार को अलंकार कहना ही निरर्थक हो जाएगा । अतएव काव्य में अलंकार और अलंकार्य का भेद मानना बडा आवश्यक है । इन रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यों ने रस और धवनि को अलंकार्य कहा और उपमादि को अलंकार । अलंकार्य और अलंकार का भेद वक्रोक्ति वादियों ने भी स्वीकार किया था । उनके अनुसार शब्द और अर्थ अलंकार्य थे तथा वक्रोक्ति अलंकार ।

अलंकारों का वर्गीकरण :

अलंकोरं का वर्गीकरण एवं विभाजन विदवानों ने अनेक प्रकार से किया है, पर इसके स्वाभाविक आधार दो ही मान्य हैं - समता, विषमता । अधिकांश अलंकार समतामूलक हैं । समता का यह आधार शब्द एवं अर्थ दोनों पर आधारित अलंकारों में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है । अनुप्रास एवं यमक प्रमुख शब्दालंकार है ।इनका आधार वर्णो एवं शब्दों की समानता है । इसी प्रकार रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का आधार भी समता ही है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु की समानता प्रतिपादित करना ही इन अलंकारों का कार्य है । इसके विपरीत कुछ अलंकार विषमता पर भी आधारित हैं ।

जैसे - प्रतीप, असंगाति, विभावना, विशेषोक्ति आदि ।

अलंकार का वर्गीकारण सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने किया उन्होंने अलंकार के चार वर्ग माने

१. वास्तव, २. औपम्य, ३. अतिशय, ४. श्लेष

इसे आचार्यों ने संतोषजनक वर्गीकरण नहीं माना। इसके पश्चात् आचार्य रुय्यक ने अलंकारों को निम्न सात वर्गों में विभाजित किया।

१. सादृश्यगार्भ २. विरोधमूल, ३. श्रुंखलाबद्ध, ४. तर्कन्यायमूलक, ५. काव्यन्यायमूलक, ६. लोक न्यायमूलक, ७. गूढार्थ प्रीतिमूलक।

राजशेखर ने काव्य मीमांसा में ''व्दिधा अलंकार कविः शब्दार्थ भेदेन'' कहकर शब्दालंकार और अर्थालंकार दो वर्ग बताये।

उदभट ने अलंकार के ६ वर्ग किए। इनके नाम उन्होंने प्रथम, व्दितीय इत्यादि वर्ग करके गिनाया।

डॉ. राजवंश सहाय हीरा ने अपने शोध प्रबध 'अलंकारों का एतिहासिक विकासः भरत से पद्ममाकर' में अलंकारों के नौ वर्ग किये -

१. शब्दालंकार	२. साधर्म्यमूलक	३. विरोधमूलक अलंकार
४. श्रृंखलामूलक अलंकार	५. गूढार्थमूलक अलकार	६. गौपनमूलक अलंकार
७. लोकन्यायमूलक अलंकार	८. अतिशयमूलक अलंकार	९. उभयालंकार

अलकारों का महत्व :

संस्कृत में काव्य की आत्मा को लेकर जो सम्प्रदाय सामने आए, उनमें अलंकार संप्रदाय के आचार्यों ने काव्य में अलंकारों की अधिकाधिक महत्ता स्वीकार की, वे उसे काव्य का उसी प्रकार प्राण भूत अंग मानते थे, जिस प्रकार अग्नि का अग्नत्व उसका प्राणभूत तत्व होता है।

अग्निपुराण ने काव्य में अलंकारों की महत्ता प्रस्तुत करते हुए कहा कि अलंकारों के बिना तो सरस्वती भी विधवा है।

''अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती।''

भामह के अनुसार जिस प्रकार स्त्री चाहे सुन्दर हो, किन्तु बिना आभूषण के सुन्दर प्रतीत नहीं होती, असी प्रकार कविता चाहे रसमय हो किन्तु फिर भी अलंकार के बिना वह सौन्दर्यहीन ही मानी जाती है

''न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्''

दण्डी ने भी अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्व माना और अलंकारों का काव्य शोभा का धर्म स्वीकार किया ।

" काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान प्रचक्षते "

चन्दन्द्रालोक के रचयिता जयदेव ने काव्य में अलंकारों का वही स्थान माना है, जो अग्नि में अग्नितत्व का होता है ।

वस्तुतः अलंकारों का महत्व अधिकांश आचार्यों ने स्वीकार किया है। जिन आचार्यों ने इन्हे काव्य की आत्मा नहीं माना, उन्होंने भी इनकी महत्ता तो किसी - न - किसी रूप में स्वीकार की ही है -

वामन के अनुसार "गुण काव्य शोभा के उत्पादक है, पर अलंकारों के दवारा उसके सौंदर्य में वृद्धि होती है ।

साहित्य दर्पण के रसवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य की बाहय शोभा का कारण माना ।

देव ने अलंकार को काव्य का पाँचवाँ अंग मानकर उसकी काव्य में महत्ता सिद्ध करते हुए कहा कि

"मनुष्य भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छन्द ।

अलंकार पंचांग थे, सहत सुनत आनन्द"

अलंकारों का सम्बन्ध मनोवृत्ति और स्वभाव से बहुत होता है ।अलंकारवादी कवि की हार्दिक इच्छा रहती है कि उसका काव्य अधिक से अधिक रमाणीय, चमत्कारपूर्ण और आनन्द प्रदायक हों । कुछ कवि स्थूल चमत्कार था बाहय आनन्द की खोज में लगे रहते हैं। बाह्य चमत्कार और आनन्द की प्रतिष्ठा की धुन में रमे कवि अधिकतर शब्दा लंकारों का ही प्रयोग करते है। काव्य सूक्ष्म सौन्दर्य और चमत्कार की प्रतिष्ठा करने के इच्छुक कवि अलंकारों की प्रतिष्ठा करते है ।

काव्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अलंकारों के महत्व का एक पक्ष और है । कवि की आन्तरिक इच्छा नहीं रहती है कि उसकी रचना अधिक से अधिक लोकरंजन करने पर भी शास्वत बनी रहे ।

सौंदर्य प्रेम मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है । यही प्रवृत्ति उसे काव्य रचना की ओर प्रेरित करती है । वह अपने काव्य में सब कुछ सुन्दर रूप में ही प्रतिष्ठित करना चाहता है । अतएव उसे अलंकारों का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है । क्यों कि अलंकार सौदंर्य पूर्ण अभिव्यक्ति के प्रधान साधन होते हैं । अतएव यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अलंकार काव्य का आधार स्तम्भ है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट प्रकट होता है कि अलंकारों के बिना न तो भाव उद्धीप्त हो सकता है न काव्य में प्रेषणीयता आ सकती है । बिना अलंकारों के कोई भी रचना काव्य पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती । अस्तु काव्य में अलंकारों का महत्व निर्विवाद है ।

अलंकार और रस :

रसानुभूति के लिए भावोत्कर्ष आवश्यक है । भावोत्कर्ष ही वह साधन है, जिससे कवि सुप्तावस्था के भावों को जाग्रत कर उन्हें रसानुभूति की स्थिति तक ले जाता है । इस भावोत्कर्ष का संप्रेषण कवि ऐसे बिम्बों के माध्यम से करना चाहता है, जो श्रोता की चेतना में उभरकर उसे रसानुभूति की स्थिति तक ले जा सकें । इस बिम्ब का निर्माण वह शिल्प की सहायता सेही करता है । शिल्प में भाषा के साथ शैली का गुण भी होता है । शैली के तत्वों में से बिम्ब उभारने की सर्वाधिक क्षमता अलंकारों में होती है । अतः अलंकारों में भावोत्कर्ष की अदभुत क्षमता होती है।

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में हो, चाहे वावय वक्रता के रूप में हो, चाहे वर्ण - विन्यास के रूप में हो,वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष के लिए ही होते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ भी अलंकारों को रस का उपकर्ता या सहायक मानते हैं ।

डॉ. नगेंद्र भी अलंकारों का सहयोग रसानुभूति में स्वीकार करते है ।

काव्य में रसानुभूति रमणीयता की भी आवश्यकता । होती है । यह रमाणीयता स्वाभाविक अलंकार प्रयोग में स्वत : आजाती है । अतः ये अलंकार जहाँ एक ओर रमणीयता का विधान करते हैं, वही दूसरी ओर भावों को उद्धीप्त कर रसानुभूति की स्थिति तक भी ले जाते हैं ।

रीति संप्रदाय

प्रस्तावना

रीति का अर्थ

रीति की परंपरा

रीति सम्प्रधाय का काव्य के प्रति दृष्टिकोण

रीति के आधारभूत तत्व - रीति और गुण, दोष, अलंकार

रीति के प्रकार

प्रस्तावना :

भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने काव्य की आत्मा का अनुसंधान करने का जितना प्रयत्न किया, उतना अन्यत्र नहीं किया गाया, इसी कारण काव्य की आत्मा के सम्बन्ध नें विविध सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई जिसमें से रीति सम्प्रदाय भी एक था । रीति रम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन थे । इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना - 'रीतिरात्मा काव्यस्थ' । तभी से साहित्य शास्त्र में रीति का महत्व समझा जाने लगा ।

रीति का अर्थ :

रीति शब्द की व्युत्पत्ति और उसके आर्य पर विचार करते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है - रीति शब्द रीङ् धातु में किरत्त प्रत्यय के योग से बनता है । अतः रीति का व्युत्पत्ति लम्ब अर्थ है - मार्ग काव्य शास्त्र में रीति का प्रयोग दो अर्थो में होता है - एक काव्य रचना की सामान्य पद्धति शैली आदि के अर्थ में तथा दूसरा संस्कृत के एक काव्य सम्प्रदाय विशेष के रूप में

रीति के अर्थ के सम्बन्ध में विदवानों के विविध मत है । वामन इसे विशिष्ट पद रचना मानते है । विशिष्ट से उसका आर्थ गुण - युक्तता से है - 'विशिष्ट पद रचना रीति':

गुण को वे काव्य का शोभाकारक गुण मानते है । वामन के अनुसार वह काव्य शोभाकारक शब्द अर्थ के धर्मों से युक्त पद रचना है ।

डॉं कृष्णदेव झारीने आचार्य वामन की परिभाषा से इस प्रकार प्रस्तुत किया है - उनके अनुसार पद रचना की विशिष्टता का आधार गुण है - विशेषोगुणात्मा। विशेष गुणो के प्रयोग से पद रचना में विशिष्टता आती है। गुणों का वामन ने काव्य शोभा का कारक कहा है।

रीति की परंपरा :

यद्यपि रीति की एक स्वतंत्त सिद्धांत के रूप में प्रतिष्टित करनें का श्रेय आचार्य वामन को प्राप्त है, किन्तु वह एक सर्वथा नूतन सिद्धांत नहीं है। उनसे पूर्व भी अनेकों आचार्यों ने रीति को विभिन्न रूपों में देखी थी। डॉं. राजवंश सहाय हीरा के अनुसार रीति के विकास की तीन स्थितियाँ है - १. पहली का सम्बन्ध भौगोलिक दृष्टि से निरूपित काव्यालोचन से ही है।

२. दूसरी में रीति तत्व का सम्बन्ध काव्य गुणों एवं विषय के साथ स्थापित किया गाया। ३. कुन्तक के अनुसार इसे कवि का वैयक्तिक गुण होने का अवसर प्राप्त हुआ। विदवानों ने इसका अस्तित्व वेदों से स्वीकार किया है। ऋग्वेद में रीति का प्रयोग अनेक स्थानों पर भिन्न - भिन्न आर्थों में हुआ है -

१. ‘‘महीव रीतिः शवसात्परत् पृथक।’’
यहाँ इसका प्रयोग धार के अर्थ में है।
तामास्य रीति : परशोरिव
यहाँ इसका प्रयोग स्वभाव या गति है।

भरत मुनि ने अपने नाट्या - शास्त्त में रीति से मिले जुलते शब्द प्रवृत्ति का प्रयोग करते हुए उसके चार भेदों की व्याख्या की है। उन्होंने इनका नामकरण भौगोलिक आधार पर किया है - आवन्ती, दक्षिणात्या, ओड्र मागधी और पांचाली। भरतमुनि के इस प्रवृत्ति सम्बन्धी विवेचना का रसबन्ध नाटक के बाह्य उपकरणों - वेशभूषादि से ही अधिक है, काव्य के आधारभूत तत्वों से कम। कुछ परवर्ती आचार्यों ने भौगोलिक आधार पर वर्गीकरण की परम्परा को अपनाया। प्रवृत्ति के अतिरिक्त भरतमुनि ने काव्य के गुण - दोषों एवं लक्षणों की विशद व्याख्या की है। रोति - सिद्धांत के आधारभूत प्रायः सभी तत्व भरत के इन गुण - दोषों एवं लक्षणों के अन्तर्गत मिल जते हैं।

भामह ने काव्यालंकार में दो प्रमुख मार्गों का उल्लेख किया है। वैदर्भी एवं गोडीया। उन्होंने दोनों का वर्णन रीति के अर्थ में न करके काव्य भेद के अन्तर्गत किया है।

भाणभट्ट ने अपने समय में प्रचलित चार दिशाओं की चार शैलियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार श्लेष, अर्थ गौरव, उत्प्रेक्षा एव गौड को चारों प्रांतों वाले अधिक महत्व दिए है।

दण्डी ने रीति सिद्धांत का विशद विवेचन किया । उन्होंन रीति में व्यक्तित्व की सत्ता स्थापित करते हुए प्रत्येक कवि की विशिष्ट रीति मानने का विचार व्यक्त किया । उनके अनुसार जिस प्रकार कवि अनेक है, उसी प्रकार रीतियों की संख्या भी अनेक है ।

वामन ने अपने काव्यालंकार सूत्र में रीति को इतना अधिक महत्व प्रदान किया कि उसे काव्य की आत्मा तक घोषित किया । रीति का लक्षण करते हुए उन्होंने बताया कि ''विशिष्ट पदरचना ही रीतिः है । अर्थात विशेष प्रकार की शब्द रचना हीं रीति है । यह विशेष प्रकार या शब्द - रचना की वह विशेषता क्या है, जिससे रीति का संपादन होता है । इसका उत्तर है 'विशेषो गुणात्मा' अर्थात गुण का होना ही विशेषता है । इस प्रकार कहना चाहिए कि वामन काव्य का आधार रीति को तथा रीति का आधार गुण को मानते है । अतः गुण ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्व सिद्ध होती है । वामन के दवारा प्रस्तुत गुणों की सूची भी बहुत कुछ भरतमुनि एवं दण्डी की सूची से मिलती - जुलती है । वामन ने मार्ग ने मार्ग के स्थान पर रीति नाम का प्रचलन किया और गौदर्भी और घैडी के अतिरिक्त एक तीसरी रीति पांचाली की कल्पना की - जो उनकी मौलिकता भी परिचायक है ।

वामन के परवर्ती आचार्यों ने भी रीति का यत्र तत्त विवेचन करते हुए इस परंपरा को आगे बढाया ।

रूद्‌ट ने वामन की रीतियों के अतिरिक्त एक चौथे भेद 'लाटी' की कल्पना की । उन्होंने रीतियों के एक समान आधार की उदभावना की उनके विचार से सामास ही रीति का निर्णयक आधार है - जहॉं समास बिलकुल न हो वह वैदर्भी, जहॉं लुप्त हो वह पांचाली, जहॉं मध्य समास व दीर्घ समास हो वे क्रमशः लाटी और गौडी रीति मानी जाती है । उनके अनुसार श्रृंगार आदि में बैदर्भी और पांचाली, रौद्र में गौडी प्रयुक्त होनी चाहिए ।

अग्निपुराण में चार प्रकार की रीतियों का उल्लेख है और सम्मत तथा असम्मत पदों के आधार पर ही उनका विभाजन किया गया है ।

पं.राजशेकर ने रीति के खाथ ही साथ प्रवृत्ति एवं वृत्ति का भी निरूपण किया । इन्होंने तीन रीतियॉं मानी - गौडीय, पांचाली एवं वैदर्भी । ये वचन - विन्यास को पद रचना मानते हैं ।

भोज ने रीतियों की संख्या में वृद्धि करते हुए - 'आवंतिका और मागधी' नामक दो वृत्तियों का और छः रीतियों का उल्लेख किया - वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली, लाटीया, आवंतिका एवं मागधी

आचार्य आनंदवर्द्धन ने रीति को 'संघटना' की संज्ञा प्रदान की है और उसे रस ध्वनि आदि काव्य के आत्मभूत तत्वों का उपकारक स्वीकार किया है । उनके अनुसार रीति और गुण में न तो अभेद होता है और न संघटना या रीति को गुणाश्रिता माना जा साकता है । उन्होंने रीति या संघटना के स्वरूप का आधार समास को माना।

आचार्य कुन्तक ने रीति के इतिहास में एक विशेष धारणा का संशोधन किया । अब तक 'रीति' का सम्बन्ध प्रदेश विशेष से माना जाता रहा था, जब कि कुन्तक ने इसे कविस्वभाव से सम्बन्धी सिद्ध किया । उपने इसी दृष्टिकोण के आधार पर रीति के विभन्न भोदों का नामकरण भी नये ढंग से किया - सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति) विचित्र मार्ग (गौडी रीति) और मध्यम मार्ग (पांचाली)

इस प्रकार रीति विवेचन की परंपरा ग्यारहवी - बारहवी शताब्दी तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही। कुन्तक, राजशेखर भोज आदि आचार्यों ने रीति सम्प्रदाय के अनुयामी नहीं होते हुए भी अपने ग्रंथों में रीति विवेचन को स्थान दिया ।

रीति सम्प्रदाय का काव्य के प्रति दृष्टिकोण :

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने काव्यालंकार सूत्र के प्रथम अधिकरण में ही काव्य के लक्षण, स्वरूप, प्रयोजन आदि का विवेचन किया है । वामन के अनुसार -

''काव्य शब्दोदयं गुणालंकार संस्कृतयो शब्दार्थयोर्वतंते ।'' अर्थात यह 'काव्य' शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है । वामन के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है.

१. काव्य की रचना गुणों और अलंकारों से परिष्कृत सज्जित भाषा में होनी चाहिए ।

२. गुणों और अलंकारों से ही काव्य में सौंदर्य उत्पन्न होता है यह सौन्दर्य या सौन्दर्य करने की विधि (रीति) ही काव्य की आत्मा है ।

३. सौंदर्य के कारण ही पाठक काव्य को पसन्द करता है तथा उसी से कवि को आनन्द व कीर्ति की उपलब्दि होती है ।

एक शब्द में सौंदर्य ही वामन के सारे दृष्टिकोण एवं उनकी समास्त मान्यताओं का मूलाधार है । उन्होंने कला के प्रति सच्चे सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण को अपनाकर उसके साथ न्याय करने का पूरा प्रयत्न किया ।

रीति के आधारभूत तत्व : रीति और गुण

आचार्य वामन का विशुद्ध सौदंर्यवादी दृष्टिकोण था । अतः उन्होंने उन सब गुणों को जिनसे काव्य सौदंर्य की सृष्टि हो सकती है, रीति के आधारभूत तत्वों के रूप में संकलित किया है । वामन ने यह स्पष्ट किया है कि सौदंर्य दोषों के त्याग तथा गुणों और अलंकारों के योग से उत्पन्न होता है । इसीलिए उन्होंने अपने ग्रंथ में गुण, दोष और अलंकार निरूपण विस्तार से किया है ।

गुण :

यद्यपि गुणों को सर्वाधिक महत्व प्रदान करने का श्रेय वामन को ही है, किन्तु उनसे पूर्व अनेक आचार्य इनकी चर्चा कर युके थे । आचार्य भरत मुनि ने दोषों के विपर्यय रूप ऐसे तत्वों को जो काव्य शैली को समृद्ध करते है, गुण माना था, ये गुण इस प्रकार है - १. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. पद-सौकुमार्य, ८. अर्थ व्यक्ति ९. उदारता एव, १०. कांति ।

आगे चलकर दण्डी ने भी दस गुणों की विस्तृत विवेचना की है किन्तु उनका कोई सामान्य लक्षण निर्धारित नहीं किया । वस्तुतः गुणों का सामान्य लक्षण भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया । उनके विचार से

''काव्य शोभाया : कतीरो धर्माः गुणाः ।''

अर्थात काल के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते है । यह लक्षण इतना व्यापक है कि इसके अनुसार वे सारे तत्व जिनसे कि काव्य - सौन्दर्य की सृष्टि है, गुणों के अन्तर्गत आ जाते है ।

(क) शब्द गुण :

१. ओज - ''गाढ़बन्धत्वमोज'' : अर्थात रचना की गाढ़ता या गाढ़बन्धत्व 'ओज' गुण कहलाता है । दण्डी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि जब वाक्यों में समास युक्त पदों की बहुलता होती है तो 'ओज' गुण का उदय होता है । वामन का भी अभिप्राय संश्लिष्ट शब्द - रचना ही रहा होगा ।

२. प्रसाद - ''शैथिलयं प्रसाद :'' अर्थात रचना की शिथिलता ही प्रसाद गुण है ।

३. श्लेष - ''मसृणत्वं श्लेष :'' अर्थात मस्तृणत्व या कोमलता को श्लेष कहते है ।

४. समता - ''मार्गाभेद : समता'' अर्थात मार्ग का अभेद या शैली की एक रूपता समता गुण है ।

५. समाधि - ''आरोहाडवरोहक्रम : ससाधि' अर्थात शैली में उतार चढ़ाव ही समाधि है ।

६. माधुर्य - 'पृथक्पदत्व माधुर्यम्' शब्दो की पृथकता ही माधुर्य गुण है ।

७. सौकुमार्य - 'अजरठत्वं सौकुमार्यम्' अर्थात कठोरता का अभाव ही सौकुमार्य है ।

८. उदारता : 'विकटत्वमृदारता' अर्थात रचना शैली की विकटता उदारता कहलाती है ।

९. अर्थ व्यक्ति - ''अर्थव्यक्ति हैतुत्व मर्धव्यक्ति'' अर्थात वह गुण जिससे अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, अर्थव्यक्ति कहलाता है ।

१०. कान्ति - ''ओज्ज्वलयं कान्ति :'' अर्थात् रचना - शैली की उज्ज्वलता या नवीनता का नाम कान्ति है ।

(आ) आर्थ गुण : जिन दस शब्द गुणों की चर्चा की गई वे ही दस गुण अर्थगुण भी है और उनकी संख्या और नाम में कोई अन्तर नहीं है किन्तु उनकी व्याख्या दूसरे ढंग से की गायी जहाँ शब्द गुणों में रचना के प्रगाढ़ बन्धन को ओज गुण माना गया है - ''अर्थस्व प्रौढिरोजः ।'' इसी प्रकार अर्थ की विमलता को 'प्रसाद', क्रमिक घटना को श्लेष, अर्थ की सुगमता को 'समता', अर्थ के दर्शन को समाधि, उक्ति वैचित्र्य को 'माधुर्य', उर्थ की सुकुमारता को 'सौकुमार्य', अग्राम्यत्व को 'उदारता', वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता को 'अर्थ - व्यक्ति' तथा रस की दीप्ति को 'कान्ति गुण' कहते है ।

वामन ही पहले आचार्य है जिन्होंने शब्द गुण और अर्थ गुण के रूप में गुणों का विभाजन करे 'रीति' को अभिव्यक्ति पक्ष के साथ अनुभूति पक्ष के प्राधान्य से मण्डित किया । यद्यपि वामन के इस गुण - विभाजन में वैज्ञानिकता का अभाव है । तथापि रीति को व्यापकता देने के कारण उनका गौरवपूर्ण स्थान है । उन्होंने कान्ति नामक गुण में सभी रसों को समाहित कर दिया है । इससे यह सिद्ध होता है कि अन्ततः वामन रस - सिद्धांत की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सके - उसे किसी न किसी रूप में मानना ही पडा ।

२. दोष :

रीति का दूसरा महत्वपूर्ण आधार दोष है । जब तक कोई भी रचना दोष शून्य नहीं होगी तब तक उसमें गुणों का समन्वय भी उत्पन्न करने में समार्थ नहीं हो सकेगा । अतः साहित्यकारों के लिए दोषों का ज्ञान भी उतना ही अपेक्षित है जितना गुणों का । काव्यगत दोषों की चर्चा वामन से पूर्व भरत, भामह और दण्डी भी कर चुके थे किन्तु उनकी कोई सामान्य परिभाषा किसी ने नहीं दी । वामन के अनुसार - 'गुण विपर्ययात्मानो दोषाः' अर्यात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है । वामन के अनुसार काव्य - दोष के चार प्रकार हैं ।

१. पद - दोष, २. पदार्थ - दोष, ३. वावय दोष, ४. वावयार्थ - दोष, यद्यपि वामन के दोष विवेचन में विस्तार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती हैं. किन्तु फिर भी उसमें उनको पर्याप्त सफलता मिली है । उनकी वर्गीकरण और विवेचन पर्याप्त स्पष्ट, संगत एवं महत्वपूर्ण है । कुछ विद्‌वानों के अनुसार वामन का दोष - दर्शन अधिक गुणवान है जब कि उनका गुण - विवेचन प्रायः दोष पूर्ण है ।

३. अलंकार :

गुण और दोषों के पश्चात् रीति का तीसरा महत्वपूर्ण अंग अलंकार है । वामन ने अपने सिद्धांत को नवीन एवं स्वतंत्त घोषित करते हुए भी वे अलंकार की उपेक्षा नहीं कर सके । उन्होंने एक स्थान पर अलंकार को सौदंर्य के व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए कहा था - ''काव्यं ग्राहृयमलंकारत् । सौन्दर्य मलङ्कारः'' इससे स्पष्ट है कि वामन चाहे अलंकारवादी न हो, किन्तु अलंकार के महत्व को वे अवश्य स्वीकार करते थे । मगर इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि वामन भी भामह, दण्डी आदि के समान ही अलंकार को महत्व देते थे । जहाँ अलंकारवादी अलंकार को काव्य का नित्य एवं आवश्चक अंग मानते है, वहाँ वामन उनका काव्य के साथ अनित्य सम्बन्ध मानते है । वे सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सकते, अपितु सौन्दर्य में केवल अभिवृद्धि कर सकते है । सौन्दर्य को उत्पन्न कर सकने की शक्ति वामन के विचार से गुण में ही है । अतः निश्चित रूप से रीति सम्प्रदाय में अलंकारों का स्थान गुणों के अनन्तर ही है ।

रीति के प्रकार :

वामन ने गुणों के आधार पर रीतियों के प्रकार निर्धारित किये हैं । उन्होंने इन रीतियों का नाम प्रदेशों के आधार पर रखा है । किन्तु ये गुण किसी भी कविता में देखे जा सकते है । इनका नामकरण इस आधार पर किया गया है कि ये गुण उन प्रदेशों की तत्कालीन कविता में पाये जाते हैं, उन देशों में उनका विशेष प्रयोग मिलता है।

विदर्भ गौड और पांचाल प्रान्तों में वहां के कवियों ने क्रमशः वैदर्भी, गौडी, पांचाली रीतियों का वास्तविक रूप में प्रयोग किया है । इसलिए इनके नाम विदर्भादि के नामो पर रखे है, इसलिए नहिं कि इन प्रान्तों का उपर्युक्त रीतियों पर कोई विशेष प्रभाव पडा है । वामन ने रीति के तीन प्रकार बताये हैं ।

अ) वैदर्भी रीति :

वैदर्भी का नाम विदर्भ देश के आधार पर रखा गाया है । इसका कारण यह है कि इस प्रदेश के कवियों ने दस गुणों से अलंकृत इस रीति में सभी गुण पाये जाते हैं और उसमें दोषों की मात्री नहीं पायी जाती । साहित्य दर्पणकार पं विश्वनाथ ने वैदर्भी का लक्षण इस प्रकार दिया है ।

''माधुर्यव्यंजैर्वणेः रचना ललितात्मिमका ।

अल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीति रिष्यते ।''

अर्थात माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त तथा समासों से रहित, ललित पद रचना को वैदर्भी रीति का नाम दिया जाता है । इसको उपनागरिका वृत्ति भी कहा जाता हैं । वैदर्भी रीति में ही कवि माधुर्य गुण को व्यक्त करते है ।

आ) गौडी रीति

इसके अंतर्गत दो गुणों का उल्लेख किया गया है, वे है - ओज और कान्तिमति । रीति का प्रयोग अपने वास्ततिक रूप में मुख्यतया गौड प्रदेश के कवियों में पाया जाता था । इसलिए इसका नाम गौडीय रख दिया गाया । इसमें समास का अधिक प्रयोग किया जाता है और माधुर्य तथा सुकुमार्य का अभाव होता है । पं. विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में गौडी के लक्षण के बारे में कहते है कि ओज प्रकाशक वर्णो से युक्त एवं समासों के आधिक्य से युक्त आडम्बर पूर्ण पद रचना को गोडी रीति कहते है । इसे परुषा वृत्ति भी कहते है ।

इ) पांचाली :

इस रीति में माधुर्य और सुकुमार्य गुण पाये जाते है । इसमें ओज गुण सुकुमारता तथा कान्ति का अभाव होता है । इसका प्रचार प्रायः पांचाल प्रदेश के कवियों में अधिक था अतएव उसका नाम पांचाली रख दिया गया। साहित्य समीक्षकों की दृष्टि में ओज और माधुर्य व्यंजक वर्णो के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पंच वर्ण वाली पद रचना पांचाली है । इस रीति को कोमल वृत्ति भी कहते है ।

वामन के मतानुसार गुणों की समग्रता के कारण वैदर्भी रीति का ही उपयोग करना चाहिए । गौडी और पांचाली का नहीं । क्योंकि समग्रता का अभाव है । वैदर्भी रीति में यदि समास का प्रयोग कम किया जाए तो उसमें अधिक उत्तमता आ जाती है । यदि वैदर्भी का आश्रय लिया जाए तो स्वल्प मात्रा में विद्यमान गुण आस्वाद में हेतु जाते हैं ।

वक्रोक्ति - सिद्धांत

प्रस्तावना

वक्रोक्ति की पंरपरा व इतिहास

वक्रोक्ति संम्प्रदाय का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

वक्रोक्ति का स्वरूप और भेद

वक्रोक्ति और आभिव्यंजनावाद

प्रस्तावना :

वक्रोक्ति शब्द का संधि - विच्छद करने पर वक्र + उक्ति अर्थात् टेढा अथवा अस्वाभाविक कथन प्रतीत होता है। अर्थात वह उक्ति जिससे वक्रता हो, वक्रता का शाब्दिक अर्थहै, टेढापन, असामान्य विचित्र आदि। व्यवहार में वक्रता तभी से प्रतीत होती है, जब मनुष्य ने भाषा का व्यवाहार पूर्ण रूप से सीख लिया था। आज भी श्रोता को चमत्कृत करने के लिए लोग अस्वाभाविक वक्र अथवा टेढे कथनों का आश्रय लेते हैं। संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति शब्द वाक्छल, क्रीडा - कलाप अथवा हास - परिहास अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

वक्रोक्ति - संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने वक्रता का अर्थ ''वैदग्धी भगी भणिति'' प्रसिद्ध कथन से भिन्न अर्थात् असामान्य या विचित्त हो किया है। इस संप्रदाय के अनुसार काव्य का सौंदर्य, उक्ति की विशिष्टता व विचित्रता में है तथा ऐसी उक्ति ही काव्य की आत्मा है। इसी दृष्टिकोण को लेकर आचार्य कुन्तक ने लगभग दसवी शताब्दी के अपने नये मत की स्थापना करते हुए 'वक्रोक्ति जीवितम' की रचना की। आचार्य कुन्तक में पर्याप्त प्रतिभा एवं नूतन विवेचन की क्षमता थी और मौलिकता एवं व्यापकता की दृष्टि से वक्रोक्ति - सम्प्रदाय की देन महत्वपूर्ण है।

वक्रोक्ति की परंपरा व इतिहास :

वक्रोक्ति विवेचन कुन्तक से भी पूर्व प्राप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य शास्त्त जगत में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से प्ररंभ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही नामान्तर मानते हैं और इसे काव्य का मूलतत्व स्वीकार करते हैं। काव्यालंकार में वे अलंकार को काव्य सर्वस्व मानते है तो वक्रोक्ति को उसका प्राण स्वीकार करते हैं। अर्थ की रमणीयता वक्रोक्ति से ही है, इस के बिना कोई भी अलंकार संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में उनका यह श्लोक प्रसिद्ध है

सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति नायार्थो विभाव्यते

यत्नोऽ स्यां कविता कार्या : कोऽलंकारोऽ नया बिना ॥

अर्थात यह सब वही वक्रोक्ति है जिसके दृवारा अर्थ चमक उठता । कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए । वक्रोक्ति का अर्थ शब्द और अर्थ की वक्रता से है । उन्होंने हेतु, सूक्ष्म एवं लेश को इसी कारण अलंकार नहीं माना क्यों कि इनमें वक्रोक्ति का अभाव है । वक्रोक्ति से भामह का अभिप्राय अतिशयोक्ति से है । उन्होंने शब्द एवं आर्थ के चमत्कार को ही वक्रोक्ति का मूलातत्व माना है ।

अभिनव गुप्त ने भामह के कथन के आधार पर वक्रोक्ति का लक्षण दिया है - 'शब्दस्याहि वक्रता, अभिधेवस्य वक्रता, लोकोतीर्णेन रूपेन अवस्थानम्''। अर्थात लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है, उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना वक्रोक्ति कहलाता है ।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङमय को दो भागों में विभाजित किया है - १. स्वभावोक्ति, २. वक्रोक्ति । स्वभावोक्ति के भीतर वस्तुओं का 'यथार्थ काथन' विद्यमान होता है । स्वभाव कथन से भिन्न होने के कारण वक्रोक्ति में अथिशय कथन का समावेश किया गय है । उन्होंने उपमा आदि सभी अलंकारों को सौन्दर्य में चमत्कार लाने का साधन स्वीकार किया । श्लेष को तो वक्रोक्ति का आधार मानकर उसकी शोभा को वे सर्वाधिक स्वीकार करते हैं।

वामन ने वक्रोक्ति को - सादृश्य के ऊपर आश्रित लक्षणा को वक्रोक्ति स्वीकार किया है ।

रूद्रट के अनुसार वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार के रूप में देखा गया है ।

भोज ने वाङमय को तीन भागों में विभक्त किप है - वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति । उनके अनुसार - उपमादि अलंकारों के प्राधान्य में वक्रोक्ति, गुण के प्रधान होने पर स्वभावोक्ति तथा विभावादि के संयोग के कारण रस की निष्पत्ति होने से रसोक्ति होती है ।

इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह के दवार अलंकार के मूलतत्व के रूप में गृहीत थी, वामन के दवारा सादृश्यमूला लक्षण के रूप में अर्थालंकार थी और रूदट के दवारा शब्दालंकार मानी जाती यी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य के मूलतत्व के रूप में स्वीकार की गयी है ।

वक्रोक्ति - सम्प्रदाय का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण :

आचार्य कुन्तक नें अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति - जीवितम्' के आरंभ में ही अपनी काव्य सम्बन्धी धारणाओं को व्यक्त किया है । सबसे पूर्व वे 'काव्य' शब्द की विवेचना करते हुए बताते है - ''कवेः कर्म काव्यम'' अर्थात कवि का कर्म ही काव्य है । आगे काव्य का लक्षण बताते हुए लिखते है

शब्दार्थों सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनि ।
बन्धे व्यस्थितौ काव्यं तव्दिदहलाद कारिणि ॥

आर्थात काव्य - मर्मज्ञों कोआनन्द देने वाली सुन्दर कवि व्यापार युक्त रचना, व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाती हैं । आचार्य कुन्तक की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि एक तो वे काव्य में शब्द और अर्थ दोनें को समान महत्व देते है, दूसरे वे प्रत्येक रचना के लिए आह्लादकारिणी होना आवश्यक मानते है । डा. नगेंद्र ने कुन्तक की इन्ही मान्यताओं का सूक्ष्म विवेचन करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किये है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

१. आचार्य कुन्तक के विचार से काव्य में वस्तु - तत्व एवं माध्यम या अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनें का तादात्म्य है ।

२. काव्य का वस्तु तत्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है अर्थात उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो अति प्रचलित होने के कारण प्रभाव हीन हो गये हो ।

३. काव्य की अभिव्यंजना शैली असाधारण या अव्दितीय होती है ।

४. अलंकार का मूल्ल तत्व है, केवल बाहय भूषण मात्र नही ।

५. काव्य का काव्यत्व कवि कौशल पर आश्रित है । दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है ।

६. काव्य की कसौटी काव्य - मर्मज्ञों का मनः प्रसादन है ।

उपर्युक्त निष्कर्पों से स्पष्ट है कि कुन्तक का दृष्टिकोण विशुद्ध कलावादी एवं सौन्दर्यवादी था । किन्तु वह एकांगी नहीं था । आधुनिक कलावादी केवल अपने मनः प्रसादन को ही काव्य की कसौटी मानता है जबकि कुन्तक विदवान पाठकों की अनुभूति को ही प्रमाण मानते है । इसी अन्तर के कारण कुन्तक संकीर्ण व्यक्तिवाद से ऊपर उठ जाते है ।

वक्रोक्ति - का स्वरूप और भेद :

वक्रोक्ति सिद्धांत काव्यशास्त्र का प्रौढ - चिंतन है, जिसके प्रणेता आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति - जीवितम नामक ग्रंथ में इस पर विचार किया । आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण किया था । सर्व प्रथम तो उन्होंने उनकी परिभाषा ही अत्यन्त व्यापक रूप में की, दूसरे, उसके भेदोपभेदों का निरूपण इतने विस्तार से किया कि उनमें वर्ण - विन्यास से लेकर प्रबन्ध कल्पना तक काव्य के सभी अंगों का सन्निवेश हो जाते है । कुन्तक द्वारा की गयी वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार है -

उभार्वतावलंकारियै तयोः पुनरलंकृति : ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीमणिति रूच्यते ।।

अर्थात - यह दोनों (शब्द और अर्थ) अलंकार्य होते है तथा विदग्ध्यतापूर्ण काथन रूपी वक्रोक्ति हो उन दोनें की अलंकार होती है ।

यहँ अलंकारी का अर्थ व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए सौन्दर्य समझना चाहिए । वक्रोक्ति को न केवल शब्द से या अर्थ से अपितु दोनों से सम्बन्ध माना जाता है । वह मूल वस्तु न होकर उसकी साज सज्रा होती है, उसमें कथन - शैली का समस्त चारुत्व समन्वित हा जाता है ।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का छ : भेद किया है - १. वर्ण विन्यास वक्रता, २. पद पूर्वार्ध - वक्रता, ३. पद - परार्ध वक्रता, ४. वाक्य वक्रत, ५. प्रकरण वक्रता, ६. प्रबन्ध वक्रल ।

१. वर्ण विन्यास वक्रता :

कुन्तक के शब्दों में जिसमें एक या बहुत से वर्ण थोडे - थोडे अन्तर से बार - बार भ्रमित होते है, वह वर्ण विन्यास वक्रता आर्थात वर्ण रचना की वक्रता कही जाती है । यहाँ वर्ण से तात्पर्य व्यंजन से है । वस्तुतः व्यंजनों की इस आवृत्ति को अलंकार सम्प्रदाय के शब्दों से अनुप्रास का नाम दिया जाता है । वस्तुतः वर्ण विन्यास के अन्तर्गत अनुप्रासादि अलंकार और माधुर्यादि गुणों का भी अंतर्भाव हो जाता है । साथ ही आचार्य कुन्तक ने वर्ण विन्यास वक्रता के लिए कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध भी निश्चित किये है - जैसे

१. वर्ण योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए ।

२. वर्ण विन्यास वक्रता के लिए अत्यन्त चोप्टा करना, या असुन्दर वर्णों का प्रयोग उचित नहीं है ।

३. उसमें नवीन सौंदर्य होना चाहिए ।

४. उसमें प्रसाद गुण का होना चाहिए ।

इससे स्पष्ट है कि कुन्तक ने वक्रता का उसी सीमा तक ही समर्थन किया है जहाँ तक कि वह काव्य के सहज स्वाभाविक सौंदर्य की अभिवृद्धि में सहायक सिद्ध हो - कृत्तिम रूप में प्रयुक्त वक्रोक्ति का समर्थन वे नहीं करते ।

२. पद पूर्वार्द्ध - वक्रता :

शब्द के आरम्भ में उत्पन्न वक्रता या मूल धातु से सम्बन्दित वक्रता को ही पद - पूर्वार्द्ध वक्रता कहते है। इसके भी भेद है।

(क) रूढि वैचित्र्य वक्रता : जहाँ कवि अपनी प्रतिभा के बल पर किसी शब्द के रूढ या वाच्य अर्थ को इस प्रकार परिवर्तित कर दें जिस उक्ति में सौंदर्य आ जाय, उसे रूढि वैचित्र्य वक्रती कहते है।

उदा : तन ही गुण सोभा लहै, सहदय जब हि सराहि।

कमल कमल है तब हि रविकर सों बिकसाहि ।।

यहाँ 'कमल' रूढि वैचित्र्य वक्रता का उदाहरण है।

(ख) पर्याय वक्रता :

एक आर्थ के द्योतक अनेक पर्यायवाची शब्द होते है। किन्तु कवि उनमें से किसी एक को चुनकर उक्ति में वक्रता या सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है, इसी का पर्याय वक्रता कहते है।

उदा : अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी

यहाँ यदि 'अबला' के स्थान पर उसका दूसरा पर्यायवाची नारी रख दिया जाय तो उसका मूल सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा।

(ग) उपचार वक्रता :

उपचार शब्द का अर्थ है अत्यन्त विभिन्न पदार्थों में अत्यन्त सादृश्य के कारण उत्पन्न होनेवाली समानता या एकता। जैसे - मूल रूपी चन्द्र। जहाँ भेद होते हुए भी अभेद का अनुभव हो, ऐसी वक्रता को ही उपचार वक्रता कहते है। अमूर्त पर मूर्त का आशेप, अचेतन पर चेतन का आरोप तथा रूपकादि अलंकार आदि इसी के अन्तर्गत आते है।

उदा : झींगूर के स्वर का प्रखर तीर
केवल प्रशान्त को रहा चीर

यहाँ तीर और चीर उपचार वक्रता के उदाहरण है। क्योंकि झींगुर का मूलत : भिन्न होता हुआ भी यहाँ चीरने वाले तीर से अभिन्नप्रतीत होता है।

(घ) विशेषण वक्रता :

जहाँ विशेषणों की विचित्रता या वक्रता के कारण काव्य में सौन्दर्य हो उसे विशेषण वक्रता कहते हैं ।

उदा : संशंक्ति ज्योत्सना सी चुपचाप,

जडित - पद, निमित - पलक दृगपात ।

(ङ) संवृत्ति वक्रता :

जहाँ सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण या गेपन करके वक्रता उत्पन्न की जाती है ।

जैसे - वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान

(च) वृत्ति वक्ता :

यहाँ वृत्ति से अभिप्राय व्याकरण के समास, तद्धित आदि से है । इनसे सम्बन्धित बक्रता को ही वृत्ति - वक्रता कहते है ।

जैसे - को घटिए वृक्षपानुजा, वै हलधर के वीर ।

(छ) लिंग वैचित्र्य वक्रता :

यह वक्रता लिंग परिवर्तन के दवारा उत्पन्न है

उदा : सिखा दो ना है मधुप - कुमारी

मुझे भी अपने मीठे गान ।

भौरें का सामान्यतः पुल्लिंग में प्रयोग होता है । जब कि यहाँ उसे स्त्री लिंग में प्रयुक्त किया गाय है जो चारुता को और बढा दिया है ।

(ज) क्रिया - वैचित्र्य वक्रता :

क्रिया सम्बन्धी विचित्रता को क्रिया - वैचित्र्य वक्रता कहते है । इस प्रकार पद - पूर्वार्द्ध वक्रता क्षेत्त अत्यन्त आदि से है ।

३) पद - परार्द्ध वक्रता :

इसका संबध शब्द के उत्तरार्ध अंश या प्रत्यय आदि से है ।

४. वावय वक्रता : यहाँ वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है । जहाँ किसी वस्तु था विषय के स्वाभाविक रूप का ही ऐसा सहज वर्णन हो कि उससे किसी प्रकार का अर्थ - सौन्दर्य उत्पन्न हो गया हो, उसे वावय - वक्रता कहते है ।

५. प्रकरण वक्रता : प्रकरण वक्रता की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती । विदवानों के अनुसार प्रसंग गत वक्रता को ही प्रकरण वक्रता मानी जानी चाहिए ।

६. प्रबन्ध वक्रता : इसके अन्तर्गत प्रबन्ध काव्य, महाकाव्य, नाटक आदि का सौदर्य आता है । इसके ६ भेद माने गए हैं ।

१. मूल रस - परिवर्तन - ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि जिससे उसका मूल भाव और रस परिवर्तित हो जाय ।

२ नायक के चरित्र में संशोधन

३. कथा के मध्य में किसी ऐसे कार्य की अवतरणा करना जो कि प्रधान कार्य की सिद्धि में योग दें।

४. नायक द्रवारा मुख्य फल के साथ - साथ अनेक फलों की प्राप्ति ।

५. प्रबन्ध का नामकरण प्रधान कथा या घटना का सूचका

६. एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धो का वैचित्र्य - वैविध्या ।

वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट होता है कि कुन्तक ने उसे इतना व्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्ना किया था कि जिससे वह काव्य के सभी अवयवों एवं स्तोतों से सम्बन्धत हो सके । वर्ण योजना से लेकर प्रबन्ध योजना तक के सभी कवि व्यापार वक्रोक्ति के इस व्यापक स्वरूप के अन्तर्गत आ जाते है ।

उपसंहार :

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के उपर्युक्त पर्यालोचन के अनन्तर ऐसा लगता है कि इसके सिद्धांत अधिक मान्यता एवं प्रचार नहीं पा सके फिर भी इसका महत्व कम नहीं है । वक्रोक्ति के व्यापक रूप में रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि सभी पूर्व प्रचलित सिद्धांतों का समन्वय किसी न किसी रुप में हो जाता है । कुन्तक की वर्ण विन्यास वक्रता

में रीति गुणों का, पद - परार्ध वक्रता में शब्दालंकारों का, वावय वक्रता में रीति गुणों का पद - परार्ध वक्रता में शब्दालंकारों का वाक्य वक्रता में अर्थालंकारों का, प्रकरण - वक्रता में ध्वनि का और प्रबन्ध - वक्रता में रस का प्रतिनिधित्व माना जा सकता है ।

वस्तुत : वर्ण - योजना से लेकर प्रबन्ध योजना तक का समस्त कवि - कौशल एवं काव्य सैंदर्य इसमें किसी न किसी रूप में समाविष्ट हो जाता है । इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धांत आचार्य कुन्तक की अद्भुत प्रतिभा, व्यापक दृष्टि एवं व्यवस्थित चिन्तन के समन्वय ये अदभुत एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है । मौलिकता एवं व्यापकता की दृष्टि से यदि इसे रीति, अलंकार और ध्वनि से भी अधिक महत्वपूर्ण बता दिया जाय ता अत्युक्ति नहीं होगी । काव्य मर्मज्ञों को माना नहीं पडेगा कि वक्रोक्ति का प्रदेय कुछ कम नहीं हैं ।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजना वाद :

क्रोचे कि अभिव्यंजनावाद की चर्चा वक्रोक्ति के साथ होती रही है । आचार्य शुक्ल ने तो इसे वक्रोक्ति का विलायती संकरण माना है - ''क्रोचे का अभिव्यंजनावाद तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है ।''

अब ये दोनों अलग - अलग माने जाते हैं । यह बात दूसरी है कि इनमें कुछ समानताएँ भी है । डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार - समानताएँ हैं - दोनों में अभिव्यजनापर बल, दोनों में कल्पना की महत्ता, दोनों में रसोन्मीलन की तृष्टि से उक्ति की अखंड सत्ता का प्रतिपा दन ।

असमानताएँ भी हैं । वे हैं वक्रोक्ति में उक्ति की वक्रता तथा ऋजुता दोनों की अलग स्वीकृति, जब कि क्रोचे ऐसां कोई भेद नहीं मानता । वक्रोक्ति में काव्य कर्म में कवि व्यापार की महत्ता की स्वीकृति है, जब कि क्रोचे के अनुसार स्मृति सहायक वस्तु मात्र है । वक्रोक्ति में आनन्द काव्य का परम प्रयोजन है, अभिव्यंजना वाद में वह मात्र सहचारी रूप में स्वीकृत है । अन्ततः वक्रोक्ति में वस्तु - त्व की महत्ता भी स्वीकृति है, जब कि अभिव्यंजनावाद में उसका स्थान गौण है ।

(102HN21)

M.A. DEGREE EXAMINATION, APRIL 2022.

First Semester

Hindi

Paper II — THEORY OF INDIAN LITERATURE

Time : Three hours Maximum : 70 marks

भारतीय काव्य शास्त्र

किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

सभी प्रश्नों के अंक समान हैं। $(5 \times 14 = 70)$

1. (a) रस संप्रदाय के इतिहास पर प्रकाश डालिये तथा भरत का रस सूत्र स्पष्ट कीजिए।

अथवा

(b) भारतीय काव्य-शास्त्र के आधार पर काव्य के विविध रूपों को स्पष्ट कीजिये।

2. (a) ध्वनि संप्रदाय के इतिहास पर प्रकाश डालते हुये ध्वनि भेद को बताइये।

अथवा

(b) औचित्य और उसकी अवधारणा को समझाइये।

3. (a) शब्द शक्ति से क्या अभिप्राय है। उनके भेदों पर प्रकाश डालिये।

अथवा

(b) अलंकार की अवधारणा–अस्थिर धर्म को समझाइये।

4. (a) वक्रोक्ति सिद्धांत का परिचय देते हुये स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

(b) साहित्य की परिभाषा देते हुये, शब्द और अर्थ के बारे में बताइये।

5. (a) किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए।

(i) रस निष्पति

(ii) साधारणीकरण

(iii) वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

(iv) शब्द और अर्थ

अथवा

(b) किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए।

(i) अलंकार और रस

(ii) रीति और शैली

(iii) ध्वनि विरोधी अभिमत

(iv) रीति के प्रकार

———————

102HN21

ORIGINALITY REPORT

4%	3%	2%	0%
SIMILARITY INDEX	INTERNET SOURCES	PUBLICATIONS	STUDENT PAPERS

PRIMARY SOURCES

1	anucde.info Internet Source	1%
2	anrcollege.edu Internet Source	1%
3	Gayl D. Ness. "Technology and ethical debates in modern population planning", Science and Engineering Ethics, 1999 Publication	1%
4	M. Kvajo, H. McKellar, J.A. Gogos. "Avoiding mouse traps in schizophrenia genetics: lessons and promises from current and emerging mouse models", Neuroscience, 2012 Publication	<1%
5	Schmidt, Lothar. "Effekte molekularer Symmetrien in der Elektronenemission bei langsamen He2-plus-He-Stößen : eine kinematisch vollständige experimentelle Untersuchung", Publikationsserver der Goethe-Universität Frankfurt am Main, 2003. Publication	<1%
6	Alexandre B. Simas, Fábio J. Valentim. "Homogenization of generalized second-order elliptic difference operators", Journal of Differential Equations, 2018 Publication	<1%
7	www.sus.ac.in Internet Source	<1%

8	Araújo, José António Faria. "Design of Cold-Formed Steel Structures", Universidade de Coimbra (Portugal), 2024 Publication	<1 %
9	collegecirculars.unipune.ac.in Internet Source	<1 %
10	arxiv.org Internet Source	<1 %
11	www.wikiind.com Internet Source	<1 %
12	Lau, Kah Chun. "First-principles studies of boron nanostructures", Proquest, 20111109 Publication	<1 %
13	Osthus, Deryk Simeon(Prömel, Hans Jürgen, Spencer, Joel H. and Steger, Angelika). "On the evolution of random discrete structures", Mathematisch-Naturwissenschaftliche Fakultät II, 2000. Publication	<1 %
14	Ton Duc Thang University Publication	<1 %

Exclude quotes	Off	Exclude matches	Off
Exclude bibliography	Off		